सन्मति साहित्य रत्नमाला का १०० वा रत्न

धर्म और दर्शन

लेखक
परम श्रद्धेय पंडित प्रवर श्री पुष्करमुनि जी महाराज
के सुशिष्य
देवेन्द्रमुनि, शास्त्री, साहित्यरत्न

श्री सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा

समर्पण

०

निस्सीम श्रद्धा और भक्ति के साथ

परम श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव

श्री पुष्कर मुनि जी महाराज

को

प्राथमिकी

❀

भारतीय चिन्तन का निचोड है आत्मा और उसके स्वरूप का प्रतिपादन। आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को जिस व्यग्रता तथा समग्रता के साथ भारतीय धर्म एवं दर्शनो ने समझने का प्रयास किया है, उतना प्रयास न यूनान के चिन्तको ने किया है और न यूरोप के विचारकों ने ही। भारतीय धर्म और दर्शन मे जड प्रकृति का वर्णन व विवेचन भी है किन्तु वह विवेचन मुख्यत चैतन्य के स्वरूप को समझने के लिए हैं, उसकी मीमासा करने के लिए है। जव कि पाश्चात्य दर्शनो मे आत्मा का जो वर्णन किया गया है वह मुख्यत जड प्रकृति को समझने के लिए है। जड प्रकृति की समीक्षा करने के लिए ही उन्होंने आत्मा का निरूपण किया है। यह प्रत्यक्ष सचाई है कि भारतीय दर्शन आत्मा की खोज का दर्शन है, और पाश्चात्य दर्शन जड प्रकृति की खोज का। भारतीय-दर्शन अध्यात्म प्रधान है और पाश्चात्य दर्शन भौतिकता प्रधान।

भारतीय चिन्तन की अन्तिम परिणति मोक्ष है। मोक्ष साध्य है, धर्म और दर्शन उसकी साधना है। पाश्चात्य दर्शन की तरह भारतीय दर्शन ने धर्म और दर्शन को एक-दूसरे का विरोधी नही माना, किन्तु एक दूसरे का सहचर और सहगामी माना है। दर्शन सत्य की मीमासा तर्क के द्वारा करता है तो धर्म श्रद्धा के द्वारा। दर्शन विचार को प्रधानता देता है तो धर्म आचार को। दर्शन का अर्थ है 'सत्य का साक्षात्कार करना और धर्म का अर्थ है उस सत्य को जीवन मे उतारना। दर्शन हमे राह दिखाता है तो धर्म हमे उस राह पर चलने को प्रेरित करता है। अधिक स्पष्ट शब्दो मे कहा जाय तो धर्म, दर्शन की प्रयोगशाला है।

धर्म और दर्शन के मूलभूत तत्त्वो के सम्बन्ध मे प्रस्तुत पुस्तक मे कुछ लिखा गया है। सूर्य के प्रकाश की तरह सत्य है कि पुस्तक लिखने की कल्पना प्रारम्भ मे मेरे मन मे नही थी और ये निवन्ध इस दृष्टि से लिखे भी नही गये थे, समय-समय पर जो मैंने निवन्ध लिखे उन निवन्धो मे से धर्म और दर्शन

सम्बन्धी कुछ निबन्ध इस सग्रह मे जा रहे हैं। धर्म और दर्शन का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत पुस्तक से पाठको को हो सकेगा—यह मैं मानता हूँ।

इन निबन्धो को लिखने की मूल प्रेरणा परम श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव श्री-पुष्कर मुनि जी महाराज की रही है। उनकी अपारकृपा, मार्ग-दर्शन और प्रोत्साहन के कारण ही मैं कुछ लिख सका हूँ। मेरे शब्द-कोष मे उनके प्रति आभार प्रदर्शित करने के लिए उपयुक्त शब्द नही है।

परम श्रद्धेय कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी महाराज का असीम अनुग्रह भी मैं विस्मृत नही कर सकता जो मुझे सदा अध्ययन एवं लेखन की उत्साह भरी प्रेरणाएँ देते रहे हैं। साथ ही उन्ही के प्रधान शिष्य कलम-कलाधर श्री विजय मुनि जी, शास्त्री, साहित्यरत्न ने मननीय प्रस्तावना लिख-कर मुझे अनुगृहीत किया।

जैन जगत के यशस्वी लेखक और तेजस्वी सम्पादक पण्डित श्री शोभा-चन्द्र जी भारिल्ल का हार्दिक स्नेह भी भुलाया नही जा सकता जिन्होंने निबन्धों को पढकर मुझे उत्साह वर्द्धक प्रेरणा ही नही दी, किन्तु मेरा स्वास्थ्य ठीक न होने से एक दो निबन्धो का सम्पादन भी किया।

सिद्धान्त प्रभाकर श्री हीरामुनि जी, साहित्यरत्न शास्त्री गणेश मुनि जी, जिनेन्द्रमुनि, रमेशमुनि, राजेन्द्र मुनि और पुनीत मुनि प्रभृति मुनि-मण्डल का प्रेमपूर्ण सेवा व्यवहार भी लेखन मे सहायक रहा है। उन सभी के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ, जिनका मुझे लेखन और प्रकाशन मे सहयोग मिला है। तथा भविष्य मे भी अधिकाधिक मिलता रहे इसी आशा और विश्वास के साथ 'विरमामि।

—देवेन्द्रमुनि

हरखचन्द्र कोठारी हॉल,
"राजहँस"
वालकेश्वर बम्बई ६
१५ अगस्त, १९६७

धर्म और दर्शन : एक मूल्यांकन

●

'धर्म और दर्शन' पर क्या लिखूँ ? लिखने को बहुत कुछ है, और लिखने को कुछ भी नही है। लिखने के प्रश्न को टालने का प्रयत्न किया। परन्तु प्रेम के आग्रह को टाला भी तो कैसे जाए ? मेरे सामने प्रश्न का प्रश्न यही था, और उलझन की उलझन भी तो यही थी न ? जीवन के प्रागण मे, किसी भी उलझन का आना, मैं उसे अभिशाप के रूप मे नही—एक सुन्दर वरदान के रूप मे ही स्वीकार करता हूँ।

जीवन उलझनदार है—आज से ही नही, एक सीमा-हीन युग से। उलझकर फिर उलझने को तो निश्चय ही मैं जीवन नही कहता। मेरे विचार मे उलझना बुरा नही, पर उलझकर सुलझने का प्रयत्न ही न करना—निश्चय ही बुरा है। धर्म और दर्शन का जन्म इसी उलझन के सुलझाव से हुआ है। मेरे अपने विचार मे मनुष्य, इसीलिए मनुष्य है, कि वह उलझ कर भी सुलझने की शक्ति रखता है।

प्रश्न था, और प्रश्न है, और प्रश्न भविष्य मे भी रहेगा—धर्म क्या है ? दर्शन क्या है ? उन दोनो का परस्पर मे सम्बन्ध क्या है ? What is Philosophy of religion, and what is raligion of Philosophy ? ये दोनो प्रश्न एक-दूसरे के पूरक है। धर्म को दर्शन की और दर्शन को धर्म की सदा से ही आवश्यकता रही है—दोनो सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नही। मानव जीवन की सरिता इन दोनो तटो के मध्य मे से ही प्रवाहित होती है। उसके प्रवाह के लिए दोनों तट आवश्यक है।

एक बार ग्रीक दार्शनिक सुकरात से पूछा गया था—What is peace and where it is ? शान्ति क्या है और वह है कहां ? कुछ गम्भीर होकर और फिर कुछ मन्दमुस्कान के साथ मे सुकरात ने कहा था—मेरे लिए शान्ति, मेरा धर्म है, और मेरे लिए शान्ति, मेरा दर्शन है। और वे कही बाहर नही, स्वय मेरे अन्दर ही हैं। सुकरात धर्म को विचार से भिन्न नही मानता। और जो कुछ विचार है, वही आचार भी।

मैं देखता हूँ, कि सुकरात के बाद मे, ग्रीक दार्शनिको मे और यूरोपीय दार्शनिको मे, धर्म और दर्शन को लेकर पर्याप्त मत-भेद खडे हो गए हैं। किन्तु सुकरात ने विचार को ही धर्म एव आचार कह कर जैनपरम्परा का ही अनुगमन किया था। हमारे यहाँ पाँच आचारो मे एक ज्ञानाचार भी है, जिसका अर्थ है—ज्ञान ही स्वय आचार बनता है। जो कुछ विचार है, वही आचार है, और जो कुछ आचार है, वही तो विचार है। श्रमणो की परम्परा मे, विचार और आचार—दोनो को सहगामी माना है। इस अर्थ में, विचार ही दर्शन है, और आचार ही धर्म है—दोनो सम्बद्ध एव पूरक है।

भले ही आज हम पाश्चात्यो का अन्ध अनुकरण करके धर्म के लिए religion और दर्शन के लिए Philosophy शब्द का प्रयोग और उपयोग करें, परन्तु जो गम्भीरता और व्यापकता धर्म और दर्शन मे है, वह religion और Philosophy मे नही है। क्योंकि ये दोनो एकागी हैं, दोनो एक-दूसरे से निरपेक्ष हैं, सापेक्ष नही।

भारत के दार्शनिको ने कभी धर्म और दर्शन को अलग स्वीकार ही नहीं किया। यहाँ तो जो धर्म है, वही दर्शन है, और जो कुछ दर्शन है, वही धर्म भी है। इतना अन्तर तो अवश्य है, कि दर्शन मे तर्क की प्रधानता है, तो धर्म मे श्रद्धा की मुख्यता है। परन्तु तर्क धर्म मे बाधक नही, तो श्रद्धा भी दर्शन में बाधक नही।

मैं देखता हूं, कि वेदान्त मे जो पूर्व मीमासा है, वही धर्म है। जो उत्तर मीमासा है, वही दर्शन है। योग आचार है, तो साख्य विचार है। बौद्ध परम्परा मे, दो पक्ष हैं—एक हीनयान और दूसरा महायान। महायान दर्शन बन गया, तो हीनयान धर्म बन गया। जैन परम्परा मे भी मुख्यरूप से दो ही तत्त्व हैं—अहिसा और अनेकान्त, अहिंसा धर्म बन गया और अनेकान्त दर्शन बन गया। भारत मे धर्म और दर्शन एक-दूसरे को छोड़कर नहीं रह सकते हैं। मानव जीवन की साधना की धरती पर दर्शन को धर्म होना ही पडेगा और धर्म को भी दर्शन बनना ही पडेगा। यहाँ विचार को आचार होना होता है, और आचार को भी विचार होना होता है।

इसके विपरीत यूरोप और ग्रीस मे, धर्म और दर्शन, दोनो एक-दूसरे से अलग होकर जीवित रहने का प्रयत्न करते रहे हैं। और इस प्रयत्न मे, वे दोनो एक दूसरे से अलग ही नही हुए, बल्कि एक-दूसरे के विरोध मे भी खड़े

हो गए। आवश्यकता है, आज फिर इन दोनो के सहयोग और समन्वय की। तभी धर्म और दर्शन मानवी जीवन को सुन्दर बना सकेंगे।

भारतीय विचारक दर्शन और धर्म के सम्बन्ध मे क्या सोचते रहे हैं? इस सम्बन्ध मे लेखक ने अपनी पुस्तक मे बहुत उद्धरण दिए हैं, जिससे विषय स्पष्ट हो जाता है। परन्तु थोडा परिश्रम करके पाश्चात्य विचारको का भी मत यदि दे दिया होता, तो सोने मे सुगन्ध हो जाती। शायद इधर लेखक का ध्यान गया ही नही।

पाश्चात्य लोग धर्म मे तीन तत्त्वो को स्वीकार करके चलते हैं—Knowing, Feeling and Doing or Willing, बुद्धि, भावना और क्रिया—तीनो के समवेत रूप को ही धर्म कहा गया है। बुद्धि का अर्थ है—ज्ञान, भावना का अर्थ है—श्रद्धा और क्रिया का अर्थ है—आचार। जैन परम्परा के अनुसार भी श्रद्धान, ज्ञान और आचरण—तीनो धर्म ही हैं और ये तीनो ही मोक्ष के साधन भी हैं।

हीगल ने धर्म की जो परिभाषा की है, उसमे एकमात्र ज्ञानात्मक पहलू पर जोर दिया गया है। शेष दो अशो की उसमे उपेक्षा की गई है। मैक्स-मूलर ने भी हीगल का ही अनुसरण किया है। कान्ट ने धर्म की जो परिभाषा दी है, उस मे उसने ज्ञानात्मक के साथ मे क्रियात्मक पहलू पर भी ध्यान दिया है, परन्तु भावनात्मक पहलू की उपेक्षा कर दी है। लेकिन मार्टिन्यू ने धर्म की जो परिभाषा की है, उसमें विश्वास, विचार और आचार—तीनो का समावेश कर लिया गया है। अत धर्म की यह अपने आप मे पूर्ण परिभाषा है। एक प्रकार से इसमे धर्म और दर्शन के साथ मे भक्ति को भी समेट लिया गया है। इसका अर्थ यह है, कि धर्म के क्षेत्र मे भक्ति, ज्ञान और कर्म—तीनो का समन्वय है।

आज के नवयुग के चिन्तन मे मे एक नया प्रश्न खडा हो रहा है, कि धर्म और विज्ञान का क्या सम्बन्ध है? धर्म Religion और विज्ञान Science मे क्या कुछ भेद है, और यदि है, तो वह क्या है? इस विषय पर विस्तार के साथ मे विचार करने का न समय है और न प्रसग ही। फिर भी दोनो का स्वरूप ज्ञान तो आवश्यक ही है। विज्ञान का उद्देश्य कार्य-कारण सिद्धान्त के द्वारा वस्तुओ के बीच स्थिरता कायम करना है। परन्तु विज्ञान से जब पूछा जाता है कि कार्य-कारण की शृ खला—एक व्यवस्था का निर्माण किस प्रकार

करती है, तो विज्ञान मौन हो जाता है। विज्ञान का सम्बन्ध जीवन से कम है—प्रकृति से अधिक। धर्म का सम्बन्ध आन्तरिक जीवन से ही है। धर्म और विज्ञान मे मूल भेद यह है, कि धर्म का प्रधान उद्देश्य मुक्ति की साधना है, जबकि विज्ञान का प्रधान उद्देश्य केवल प्रकृति का अनुसन्धान है। विज्ञान मे सत्य Truth तो है, पर शिव Good ness और सुन्दर Beauty नही है, जब कि धर्म मे तीनो है—सत्य भी, शिव भी और सुन्दर भी।

धर्म और दर्शन मे क्या भेद है? इस सम्बन्ध मे, मैं प्रारम्भ मे ही लिख चुका हूँ। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् इस विषय मे क्या और कैसा सोचते हैं?

पाश्चात्य विचारको की यह मान्यता है, कि धर्म और दर्शन दोनो का विषय सम्पूर्ण विश्व है। दर्शन मनुष्य की अनुभूतियो की युक्तिपूर्ण व्याख्या करके सम्पूर्ण विश्व के आधारभूत सिद्धान्तो की खोज करता है। धर्म भी आध्यात्मिक मूल्यो के द्वारा सम्पूर्ण विश्व की व्याख्या करने का प्रयास करता है। धर्म और दर्शन मे दूसरी समता यह है, कि दोनो मानवीय ज्ञान की योग्यता मे विश्वास करते हैं। धर्म और दर्शन—दोनो मानवीय ज्ञान की यथार्थता मे पूर्ण विश्वास करके चलते हैं। धर्म और दर्शन मे मूल साम्य यह है, कि दोनो चरमतत्त्व मे (आत्मा मे) विश्वास करते हैं। दर्शन यदि बौद्धिक भूख को शान्त करता है, तो धर्म आध्यात्मिक भूख को शान्त करता है। दर्शन सिद्धान्त की ओर जाता है, तो धर्म व्यवहार की ओर जाता है। धर्म का आधार श्रद्धा है, तो दर्शन का आधार तर्क है।

आज के युग मे एक प्रश्न और पूछा जाता है—धर्म और दर्शन का जन्म कब से हुआ? इस प्रश्न के सम्बन्ध मे यहाँ पर संक्षेप मे, इतना ही लिखना पर्याप्त होगा, कि मनुष्य के मन और मस्तिष्क के साथ ही धर्म और दर्शन का जन्म होता है। कभी हो, इतना सत्य है, कि दोनो एक-दूसरे को छोड कर कभी नही रह सकते? धर्म के अभाव मे दर्शन अधूरा है, और दर्शन शून्य धर्म भी अधूरा ही रहेगा। मानव जीवन को सुन्दर और मधुर बनाने के लिए दोनो की समान भाव से आवश्यकता है।

प्रस्तुत पुस्तक "धर्म और दर्शन" मे मानव जीवन की मुख्य-मुख्य समस्याओ पर विस्तार के साथ मे विचार किया गया है। भाषा सुन्दर है, भाव गम्भीर है और शैली आकर्षक है। प्रत्येक विषय को प्राचीन ग्रन्थो के उद्धरणो से परिपुष्ट किया गया है। विचारशील पाठको के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही उप-

योगी और प्रयोगी सिद्ध होगा। धर्म और दर्शन जैसे गम्भीर विषय को इतनी सुन्दर भाषा मे और इतनी सरल एव सरस शैली मे अभी तक नही रखा गया था। आभ्यन्तर सुन्दरता के साथ में पुस्तक की बाह्य सुन्दरता भी प्रशसनीय है। मणि-काञ्चन का यह संयोग, अध्येताओ के लिए अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगा।

धर्म और दर्शन के लेखक हैं—पण्डित रत्न, प्रखर प्रवक्ता, श्रद्धेय पुष्कर मुनिजी महाराज के अन्तेवासी शिष्य—श्री देवेन्द्र मुनिजी शास्त्री, साहित्यरत्न। गुरु से प्राप्त ज्ञान शिष्य में कितना उज्ज्वलतर हो गया है ? यह पुस्तक लिख कर मुनिजी ने जहां गुरू से प्राप्त ज्ञान को सफल किया है, वहाँ अपने अथक परिश्रम से उसे समाज की चेतना के समक्ष बहुत ही व्यवस्था और सजावट के साथ रखने मे पूर्णत. सफल हुए हैं। उनकी लेखनी के चमत्कार से सभी परिचित हैं। मुझे आशा से भी बढ़कर विश्वास है, कि भविष्य मे वे इससे भी अधिक शानदार कृति भारती के भण्डार मे समर्पित करने में सफल रहेंगे।

कादावाड़ी जैन स्थानक
बम्बई
१२-८-३७

—विजयमुनि

प्र का श की य

❀

धर्म और दर्शन का महत्वपूर्ण प्रकाशन प्रस्तुत करते हुए हमे अत्यन्त प्रसन्नता है।

इस पुस्तक मे श्री देवेन्द्र मुनि जी ने धर्म और दर्शन के सम्बन्ध मे बहु-प्रचलित भ्रान्तियाँ, और अज्ञानमूलक धारणाओ के परिष्कार के साथ ही धर्म और दर्शन की मौलिक स्थापनाओ का, उसकी विविध प्रक्रियाओ का सदसर्भ जो शास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत किया है, वह नई पीढी के नये विचार-शील युवको के लिए पठनीय एवं मननीय है।

श्री देवेन्द्र मुनि जी, शास्त्री स्थानकवासी समाज के उदीयमान साहित्य-कार है। सतत अध्ययन और नवलेखन उनकी रुचि Hoby है।

सन्मति ज्ञान पीठ अपनी विशुद्ध सास्कृतिक परम्परा के अनुरूप मौलिक और महत्वपूर्ण प्रकाशनो को प्रस्तुत करती रही है। इससे पूर्व मुनि श्री की एक खोजपूर्ण कृति "ऋषभदेव. एक परिशीलन" भी प्रकाशित हो चुकी है। आशा है उस पुस्तक की तरह प्रस्तुत पुस्तक का भी सर्वत्र उत्साह के साथ स्वागत किया जायेगा।

पर्युषण के अवसर पर पुस्तक सम्पन्न करने का हमारा सकल्प था। समय अत्यन्त कम था, किन्तु फिर भी कार्य यथासमय सम्पन्न हो सका, इसकी हमे अत्यन्त प्रसन्नता है।

पुस्तक के प्रूफ सशोधन मे ज्ञानपीठ के कार्यकर्त्ता श्री श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' तथा मुद्रण मे श्री विष्णु प्रेस के मालिक श्री रामनारायण जी मेडतवाल का सहयोग सदा स्मरणीय रहेगा।

मन्त्री

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा २

अनुक्रम

धर्म और दर्शन

एक | धर्म और दर्शन

मानवमस्तिष्क जिज्ञासाओ का महासागर है। उसमे विविध प्रकार के चिन्तन की ऊर्मियाँ उठनी ही रहती हैं। अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के विषय मे अनेक विध प्रश्न उद्भूत होते रहते है। "मैं क्या हूँ ? कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? मेरा पुनर्जन्म होगा या नही ? होगा तो कहाँ, किस रूप मे होगा ?"[1] ये कतिपय प्रश्न उन प्रश्नो मे से हैं, जो अपने अन्तर्जगत् के विषय मे उत्पन्न होते है और कभी-कभी मनुष्य को बेहद परेशान कर देते है।

इसी प्रकार बहिर्जगत् के सम्बन्ध मे भी सैकडो जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। हमारे चारो ओर फैला हुआ यह विशाल विश्व, जिसका कही ओर छोर नजर नही आता, क्या है ? यह प्राणिसृष्टि और जड सृष्टि क्या है ? विश्व की आदि है या नही ? है तो कब इसकी रचना हुई ? विश्व का अन्त होगा या यह शाश्वत है ? अन्त होगा तो कब होगा ?

---

१ पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमसि, दाहिणाओ वा "पच्चत्थिमाओ वा' उत्तराओ वा ' 'उड्ढाओ वा अहोदिमाओ वा आगओ अहमसि ? एवमेगेसि णो णाय भवइ—अत्थि मे आया उववाइए, णत्थि मे आया उववाइए ? के अहमसि ? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ?

—आचाराग १–१

(ख) कोऽहं कीदृक कुत आयात ?

इन प्रश्नो के समाधान के दो उपाय है—निष्ठा और तर्क । निष्ठा से धर्म का जन्म होता है और तर्क से दर्शन का । किन्तु धर्म और दर्शन, दोनो विषय अत्यन्त गम्भीर है और उनमे व्यापक भाव निहित है । अतएव उचित होगा कि उनके सम्बन्ध मे यहा सक्षेप मे विचार कर लिया जाए ।

धर्म क्या है ?

'धर्म' एक बहुप्रचलित शब्द है । इस देश मे अधिक से अधिक प्रचलित और प्रयुक्त होने वाले शब्दो मे 'धर्म' शब्द को गणना की जा सकती है । पठित और अपठित सभी वर्गो के लोग दैनिक व्यवहार मे सहस्रो बार इस शब्द का प्रयोग करते है । फिर भी निस्सकोच कहा जा सकता है कि धर्म के मर्म को पहचानने वाले बहुत कम लोग है । अधिकाश लोग जाति एव समाज मे पुरातन काल से चली आती परम्पराओ, रूढियो या धारणाओ मे धर्म की कल्पना कर लेते है और उन्ही के पालन को धर्म का पालन मान लेते हैं । उन्ही का पालन करके वे सन्तुष्ट हो जाते है और अन्तिम समय तक धोखे मे रहते है ।

समाज मे एक वर्ग ऐसा है, जो धर्म के विषय मे प्रमाणभूत समझा जाता है । किन्तु दुर्भाग्य से उसमे भी अधिकाश व्यक्ति ऐसे होते हैं जो धर्म की वास्तविकता से अनभिज्ञ होते है । अन्धे के नेतृत्व मे चलने वाले अन्धो की जो गति होती है, वही जनसाधारण की भी गति होती है ।

धर्म का सम्बन्ध कई लोग लौकिक कर्त्तव्यो या वर्त्तमान जीवन के साथ ही जोडते है, तो कई लोग सिर्फ आत्मा के शाश्वत कल्याण के साथ । किन्तु सूक्ष्म और गभीर विचार करने पर विदित होगा कि धर्म वास्तव मे एकागी नही है । उसमे मनुष्य के लौकिक और आध्यात्मिक सभी कर्त्तव्यो का समावेश होता है । मनुष्य को अपनी आत्मशुद्धि के लिए या अपने शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि के लिए जिन नियमो या विधि-निषेधो का अनुसरण करना चाहिए, उनका समावेश तो धर्म मे होता ही है, मगर उसके समस्त लौकिक कर्त्तव्य भी धर्म के अन्तर्गत ही है । मनुष्य का अन्य प्राणियो के प्रति क्या कर्त्तव्य है ? अगर

वह ग्रामवासी है तो ग्राम के प्रति, नगर निवासी है तो नगर के प्रति और जिस राष्ट्र का नागरिक है, उस राष्ट्र के प्रति उसका किस प्रकार का सम्बन्ध होना चाहिए ? अन्ततः समग्र विश्व के प्रति उसका क्या कर्त्तव्य है ? इन सब कर्त्तव्यो का समावेश धर्म मे होता है। यही कारण है कि हमारे दीर्घदृष्टि शास्त्रकारो ने जहाँ आत्मधर्म का निरूपण किया है वही ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म आदि का प्रतिपादन भी किया है[2] और समग्र विश्व के कल्याण की कामना करने की भी प्रेरणा की है।[3] और यह तो सहज ही समझा जा सकता है कि विश्वकल्याण की कामना कोरी कामना ही नही है, वरन् उसके लिए यथाशक्ति प्रयास करना भी उसमे गर्भित है। विश्व के हित की कामना की जाय, किन्तु तदनुकुल प्रयत्न न किया जाय तो वह कामना आत्मवञ्चना से अधिक और क्या होगी ?

तथ्य यह है कि लोककल्याण और आत्मकल्याण दो पृथक्-पृथक् कर्त्तव्य नही हैं। ये दोनो सम्मिलित होकर ही धर्म का रूप ग्रहण करते है। सच्चा धर्मनिष्ठ पुरुष लोककल्याण को आत्मकल्याण से भिन्न और आत्मकल्याण को लोककल्याण से भिन्न नही मानता। वह लोककल्याण को आत्मकल्याण के रूप मे ही देखता है और आत्मकल्याण का ही एक आवश्यक अग मानता है। अतएव परोपकार वस्तुत आत्मोपकार ही है। नन्दीसूत्र की टीका इस सम्बन्ध मे अवलोकनीय है।

ऐसी स्थिति मे निश्चयनय के नाम पर या आत्मा के नाम पर धर्म को अत्यन्त सकीर्ण दायरे मे बन्द करने के जो प्रयास किए जा रहे है,

---

२ दसविधे धम्मे पण्णत्ते, त० गामधम्मे, नगरधम्मे, रट्ठधम्मे, पासडधम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, सघधम्मे, सुयधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे।

—स्थानाग १०—१

३ सर्वे भवन्तु सुखिन, सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दु'खभाग् भवेत्॥

(ख) क्षेम सर्वप्रजाना प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपाल।
काले काले च सम्यग् वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्॥
दुर्भिक्ष चौरमारी क्षणमपि जगता मास्म भूज्जीवलोके,
जैनेन्द्र धर्मचक्र प्रभवतु सतत सर्वसौख्यप्रदायि॥

वे किसी भी प्रकार से उचित नही है । यही नही, किन्तु इन प्रयासो ने धर्म को खतरा उत्पन्न कर दिया है । जब समग्र विश्व वेग के साथ समाजवाद की ओर अग्रसर हो रहा है, तब धर्म को एकान्त वैयक्तिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न देश और काल से भी विपरीत है। वास्तविकता तो उसमे है ही नही। यह सत्य है कि लौकिक कर्त्तव्य के नाम पर आत्मा के शाश्वत कल्याण की उपेक्षा नही करनी चाहिए, किन्तु यह भी सत्य है कि आत्मकल्याण के नाम पर लौकिक कर्त्तव्यो को दृष्टि से ओझल नही कर देना चाहिए ।

जिसने धर्म के मर्म को पहचान लिया है वह आत्मकल्याण और लोककल्याण का सुन्दर समन्वय करके चलता है और उनमे किसी भी प्रकार विरोध नही उत्पन्न होने देता । यही धर्म की उदारता और व्यापकता है। जब तक धर्म मे यह उदारता और व्यापकता बनी रहेगी, वह किसी भी देश और काल मे अनुपादेय नही समझा जा सकेगा । अगर हम चाहते है कि मनुष्य का प्रत्येक कदम और प्रत्येक उच्छ्वास धर्म से अनुप्राणित हो, तो हमे धर्म के उदार स्वरूप की रक्षा करनी ही होगी । इस प्रकार धर्म हमारे वैयक्तिक, सामाजिक, ऐहिक और पारलौकिक कर्त्तव्यो का नियामक और सचालक है। धर्म से हमारा जीवन सगीतमय बनता है और साथ ही शिवमय भी। मनुष्य ने अनेक कलाओ का आविष्कार किया है, किन्तु धर्म कला उन सब मे उत्तम है,[४] जो जीवन को स्थायी सत्य, शिव और सौन्दर्य से आपूरित कर देती है ।

आचार्य हरिभद्र ने धर्म की प्रशस्ति करते हुए लिखा है—"धर्म से उत्तम कुल मे जन्म लेने की प्राप्ति होती है, धर्म से ही दिव्य रूप की, धन समृद्धि की और सुविस्तृत कीर्त्ति की प्राप्ति होती है। धर्म अनुपम मंगल है, समस्त दु खो की अनुपम औषध है, धर्म विपुल बल है, धर्म ही प्राणियो के लिए त्राण और शरण है ।

अधिक क्या कहा जाय, समस्त जीवलोक मे इन्द्रियो और

---

४ सव्वा कला धम्मकला जिणेइ ।

—गौतमकुलक

मन को जो भी अभिराम प्रतीत होता है, वह सब धर्म का ही फल है[५]।'

इस कथन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म का सम्बन्ध न केवल आध्यात्मिक श्रेयस् से है, अपितु हमारे वर्त्तमान जीवन के साथ भी है।

धर्मव्याख्या

धर्म शब्द का व्याकरण शास्त्र के अनुसार अर्थ है—धारण करना। जो धारण करता है वह धर्म है।[६] 'धृञ्' धातु मे 'मत्'[७] या 'म'[८] प्रत्यय जोडने पर 'धर्म' शब्द निष्पन्न होता है। जो दुर्गतिपात से प्राणियो को बचाता है, वह धर्म है[९]। कणाद के कथनानुसार जिससे अभ्युदय

---

५ धम्मेण कुलप्पसूई, धम्मेण य दिव्वरूवसपत्ती।
धम्मेण धणसमिद्धी, धम्मेण सुवित्थडा कित्ती॥
धम्मो मगलमउल, ओसहमउल च सव्वदुक्खाण।
धम्मो बलमवि विउल, धम्मो ताण व सरण च॥
कि जपियेण बहुणा, ज ज दीसइ सव्वत्थ जियलोए।
इन्दिय-मणाभिराम, त त धम्मफल सव्व॥

—समराइच्चकहा

६ धारणाद् धर्ममित्याहु।

—मनु

(ख) धारणाद् धर्म उच्यते।

—महाभारत, कर्ण पर्व

७ धृञ् धारणे, अस्य धातोर्मत् प्रत्ययान्तस्येद रूपम् धर्म इति।

—दशवै० जिन० चूर्णि पृ० १४

८ धृञ् धारणे, इत्यस्य धातोर्मप्रत्ययान्तस्येद रूपम् धर्म इति।

—दशवै० हारि० टीका, पत्र २०

९ यस्माज्जीव नरकतिर्यग्योनिकुमानुषदेवत्वेषु प्रपतन्त धारयतीति धर्म, उक्तञ्च—

दुर्गतिप्रसृतान् जीवान्, यस्माद् धारयते तत।
धत्ते चैतान् शुभस्थाने तस्माद् धर्म इति स्थित.॥

—दशवै० जिन० चूर्णि० पृ० १५

अर्थात् स्वर्ग की और निश्रेयस् अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है, वह धर्म है[10]।

'धर्म' शब्द की उल्लिखित व्युत्पत्तियाँ शब्द और अर्थ की दृष्टि से मिलती-जुलती है। किन्तु आध्यात्मिक परम्परा के मूर्धन्य सन्त आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्म की जो परिभाषा की है, उसमे जैन दृष्टि की विशिष्टता स्पष्ट प्रतिभासित होती है। उन्होने वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है[11]। वस्तु का स्वभाव धर्म किस प्रकार है, इसका स्पष्टीकरण ध्यानयोगी आचार्य रामसेन ने किया है, जो इस प्रकार है—समस्त विश्व पर्यायो की दृष्टि से क्षण-क्षण मे विनष्ट हो रहा है। सचेतन हो या अचेतन, सभी पदार्थ प्रतिक्षण नाश को प्राप्त हो रहे हैं। निरन्तर प्रवर्त्तमान इस विनाशलीला मे भी वस्तु का मूल स्वभाव वस्तु को धारण किये रखता है, कायम रखता है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से धृत है, अवस्थित है, अतएव वस्तु का स्वभाव धर्म है। उदाहरणार्थ—जीव पर्याय की दृष्टि से विनाशशील होने पर भी अपने चैतन्यस्वभाव से सदा धृत अर्थात् ध्रुव रहता है, इस कारण चैतन्य जीव का धर्म है। प्रतिक्षण विनष्ट होते हुए पुद्गल को उसका मूर्त्तिकत्व स्वभाव धारण किए रहता है, अर्थात् अस्तित्व मे रखता है, अतएव मूर्तिकता पुद्गल का धर्म है[12]।

आचार शास्त्र की दृष्टि से अहिंसा, सयम और तप धर्म है[13]। धर्म उत्कृष्ट मगल है।

इन सभी व्याख्याओ का समन्वय करते हुए कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा मे कहा है—वस्तु का स्वभाव धर्म है, क्षमा आदि दश प्रकार का भाव

---

१०. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः।

—वैशेषिक दर्शन

११. वत्थुसहावो धम्मो।

१२. शून्यीभवदिदं विश्वं स्वरूपेण धृत यत.।
तस्माद्वस्तुस्वरूपं हि, प्राहुर्धर्मं महर्षयः॥

—तत्त्वानुशासन, ५३

१३. धम्मो मगलमुक्किट्ठं, अहिंसा सजमो तवो।

—दशवै० अ० १ गा० १

धर्म है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म है और जीवो का रक्षण करना धर्म है[14]।

आचार्य समन्तभद्र के कथनानुसार धर्म वह है, जो प्राणियो को सासारिक दु खो से बचाता है और उत्तम सुख मे धारण करता है[15]।

धर्म की इन अनेक व्याख्याओ के उल्लेख का प्रयोजन यह है कि पाठक धर्म के व्यापक स्वरूप को हृदयङ्गम कर सकें। उल्लिखित व्याख्याएँ स्पष्ट प्रकट करती हैं कि जीवन को उच्च पवित्र और दिव्य बनाने वाले जो भी विधिविधान या क्रियाकलाप हैं, वे सभी धर्म के अन्तर्गत है।

सक्षेप मे, दशवैकालिक सूत्र मे प्रदर्शित धर्म के स्वरूप के प्रकाश मे कहा जा सकता है कि जो उत्कृष्ट मगल है वही धर्म है। मगल शब्द का अर्थ है—पाप या बुराइयो का नाश और सुख या कल्याण की प्राप्ति। तात्पर्य यह हुआ कि जो आचारप्रणालिका हमारे जीवन को पाप की कालिमा से बचाती है, जीवनगत बुराइयो को दूर करती है और जिससे कल्याण का पथ प्रशस्त होता है, वही धर्म है। इस व्यापक परिभाषा से जैनागमप्रतिपादित धर्म सार्वभौम धर्म का दर्जा प्राप्त कर लेता है। जिससे आत्मा का मगल हो वह आत्म-धर्म है, जिससे राष्ट्र का मगल हो वह राष्ट्रधर्म है और जिस आचारप्रणाली से विश्व का मङ्गल हो, वह विश्वधर्म है। इसी प्रकार यह परिभाषा सभी समाजो, वर्गो और वर्णो पर लागू होती है।

'चोदनालक्षणो धर्म' अर्थात् वेद से मिलने वाली प्रेरणा धर्म है, यह परिभाषा जैसे एक ग्रन्थविशेष पर आधारित होने के कारण संकीर्ण है, उस प्रकार जैनपरिभाषा मे लेशमात्र भी सकीर्णता नही है।

---

१४. धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तय च धम्मो, जीवाण रक्खण धम्मो॥
—कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, ४७८

१५. संसारदु खत सत्त्वान्, यो धरत्युत्तमे सुखे।
—रत्नकरण्डक श्रावकाचार

भारत और धर्म

भारतवर्ष धर्मप्रधान देश के नाम से विख्यात है। भारत की यह ख्याति आधुनिक भारतीय जीवन के कारण नही, वरन् इस कारण है कि इतिहासातीत काल से भारत की प्रजा का जीवन धर्म से अनुप्राणित रहा है। जब से मानव समाज का निर्माण हुआ, सभ्यता और संस्कृति का नवोन्मेष हुआ, तभी से प्रजा के एक विशिष्ट वर्ग ने धर्मसम्बन्धी चिन्तन और उसके प्रचार-प्रसार के लिए अपना जीवन समर्पित किया और उस वर्ग की परम्परा आज भी अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। उस वर्ग को भारतीय प्रजा ने अपनी श्रद्धा-भक्ति अर्पित की और अपना उद्धारक माना है। भारत कभी ऐश्वर्य या वैभव का उपासक नही रहा, उसने सदा धर्म की आराधना की है। चक्रवर्ती सम्राट् भी धर्मप्राण सन्तो के चरणो मे विनम्रभाव से नतमस्तक होते आए हैं। धर्म की रक्षा मे ही हमारी रक्षा है,[१६] यह भारत के मनीषियो का उद्घोष रहा है। भारतीय साहित्य मे धर्म की रक्षा के लिए प्राणो का बलिदान करने वाले वीर पुरुषो और नारियो के सहस्रो उदाहरण विद्यमान है, जो आज भी प्रेरणा के स्रोत हैं। इस प्रकार भारत को धर्म प्रधान देश कहने मे तनिक भी अत्युक्ति नही है। भले आज आचरण मे धर्म की न्यूनता दृष्टिगोचर होती हो परन्तु भारतीय जनमानस धर्म के प्रति आज भी सर्वाधिक आस्थावान् है।

धर्मसम्बन्धी भ्रम

विज्ञानप्रदत्त सुविधाओं के कारण आज समग्र विश्व जैसे एकाकार हो गया है। प्रत्येक देश का दूसरे समस्त देशो के साथ निकटतम सम्पर्क स्थापित हो गया है। ऐसी स्थिति मे वाछनीय तो यह था कि भारतीय धर्म एव सस्कृति का सदेश समग्र विश्व मे फैलता, किन्तु ऐसा हो नही रहा है। जो देश वैज्ञानिक दृष्टि से उन्नत और इसी कारण सबल है, उनका प्रभाव हमारे देश पर बडी तेजी से पड रहा है। उनकी विचारधारा भी भारतीयो को प्रभावित कर रही है। उसके फलस्वरूप धर्म के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार के भ्रमो की सृष्टि

---

१६. धर्मो रक्षति रक्षित ।

हुई है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि धर्म जीवन को रूखा बनाता है। कइयो की धारणा है कि आत्महित को प्रधानता देकर धर्म मनुष्य को स्वार्थपरायण बना देता है। किसी किसी का आक्षेप है कि धर्म त्याग, सन्यास या निवृत्ति का विधान करके और उस पर अत्यधिक बल देकर मनुष्य को जीवनसघर्ष से दूर भागने की प्रेरणा करता है, तो कई लोग धर्म को कलह का मूल कहते हैं।

ये सभी भ्रम धर्म के वास्तविक स्वरूप के नही, अपितु अज्ञान के फल है। धर्म की जो प्रमाणोपेत व्याख्या हमने प्रस्तुत की है, उसी से इन सब भ्रमो का निवारण हो जाता है। धर्म से जीवन नीरस नही, मर्यादित बनता है। सरसता का अर्थ यदि मर्यादाहीन उछृंखल विहार समझा जाय तो बात दूसरी है, अन्यथा धर्म का ऐसा कोई भी विधान नही है जो जीवन मे नीरसता उत्पन्न करता हो। व्यक्ति को स्वार्थ परायण बना देने का आक्षेप तो एकदम ही निराधार है, क्योकि धर्म प्राणिमात्र को आत्मवत् समझने की प्रेरणा करता है और परोपकार को आत्मोपकार ही मानने की शिक्षा देता है। जैनशास्त्र का विधान है कि मुमुक्षु को स्व-पर के प्रति समभावी होना चाहिए और अपनी विशिष्ट अन्त शुद्धि के लिए विशेष रूप से परोपकार करने का यत्न करना चाहिए।[१७]

जो त्यागवृत्ति अगीकार करता है, प्रव्रज्या ग्रहण करता है, या सन्यास धारण करता है, क्या वह जीवनसघर्ष से दूर भागता है? नही, गृहस्थी की सुख-सुविधाओ का परित्याग करके जो व्यक्ति त्याग के पथ को अगीकार करता है, वह बडी से बडी कठिनाइयो को, कष्टो को और अभावो को समभाव से सहन करता है। वह उन सबसे जूझने के लिए कृतसकल्प होता है। महावीर और बुद्ध दोनो राज-कुमार थे। ससार के उत्तम से उत्तम सुखसाधन उन्हे अनायास उपलब्ध

१७. नि श्रेयसपदमविरोद्धुकामेन तदवाप्तये स्वपरसममानसीभूय स्वपरोपकाराय यतितव्यम्। तत्रापि महत्यामाशयविशुद्धौ परोपकृति. कर्त्तु शक्यते, इत्याशयविशुद्धिप्रकर्षसम्पादनाय विशेषत. परोपकारे यत्न आस्थेय ।

—नन्दीसूत्र टीका, मलयगिरि

थे। राजमहलो मे उन्हे किसी प्रकार का कष्ट नही था, दु ख नही था। फिर किस लिए उन्होने राजकीय वैभव को तृण की तरह त्यागकर तपश्चर्या का पथ अगीकार किया ? खासतौर से भगवान् महावीर का जीवन तो निराला ही है। वे आए हुए संकटो को ही अविचल भाव से सहन नही करते थे, किन्तु सकटो को आमन्त्रित भी करते थे और उनको पराजित करने मे आत्मिक वीर्य का सदुपयोग करते थे।

'धर्म कलह का कारण है'—इस कथन मे भी कोई सचाई नही है। धर्म कलह को पाप और आत्मपतन मानता है। वह विश्वमैत्री पर वल देता है। अनेकान्त दर्शन ने समस्त दर्शनो के मतभेदो का निवारण करने का मार्ग सुझाया है। दक्षिण भारत मे शैवो द्वारा जैनो के प्रति किए गए प्राणहारी अत्याचार, ईसाइयो मे रोमन कैथोलिको और प्रोटेस्टेटो के बीच हुए सघर्ष और भारत के हिन्दू-मुस्लिम दगे आदि मे क्या वास्तव मे धर्म का हाथ है ? ससार का कोई भी धर्म, अन्य धर्मावलम्बियो का गला काटने का उपदेश नही देता। यह करतूतें तो उन अधार्मिक लोगो की है जो अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए धर्म के पवित्र नाम का दुरुपयोग करते है। धर्म के वास्तविक स्वरूप को न समझना भी इसका कारण हो सकता है। धर्मसम्बन्धी अज्ञान धर्मोन्माद को जन्म देता है और लोग धर्म और धर्मोन्माद मे भेद न करके धर्म पर लाञ्छन लगाते है। वस्तुत धर्म का उससे कोई सरोकार नही होता।

धर्म और पन्थ

ऐसे लोगो की सख्या भी कम नही है, जो विविध पन्थो को ही धर्म मानते हैं। किन्तु धर्म और पन्थ मे वहुत अन्तर है। धर्म एक है, पन्थों की गणना करना भी सम्भव नही है। धर्म शाश्वत है, पन्थ सामयिक होते है। धर्म को यदि सरोवर मान लिया जाय तो पन्थ उसमे उठने वाली एक लहर है। युग की समाप्ति के साथ पन्थ समाप्त हो जाते हैं, जब कि धर्म त्रिकाल-अबाधित है। धर्म के अभाव मे सृष्टि के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

भारतीय साहित्य मे धर्म की विस्तृत और सूक्ष्मतम विवेचना की

गई है। विभिन्न वर्गों के लिए धर्म की विविध श्रेणिया प्रदर्शित की गई है, पर विस्तार भय से यहाँ उनका उल्लेख नही किया जा सकता।

धर्म और दर्शन

धर्म और दर्शन का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह कहना भी अत्युक्ति न होगा कि धर्म और दर्शन एक सिक्के के दो बाजू है। मानव जीवन के साथ जैसे धर्म का सम्बन्ध है वैसे ही दर्शन का भी। धर्म आचारपक्ष है, दर्शन विचारपक्ष है।

दर्शन क्या है ?

दर्शन का सामान्य अर्थ दृष्टि है[१८]। प्रस्तुत दृष्टि को अंगरेजी भाषा मे विजन (Vision) कहते है। साधारणत प्रत्येक व्यक्ति, जिसे नेत्र प्राप्त है, देखता ही है, मगर यहाँ पर वह साधारण दृष्टि विवक्षित नही है। दर्शन का सही अर्थ दिव्य दृष्टि है, जिसके द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार होता है।

दर्शन मानव-मस्तिष्क की बौद्धिक उपज कहा जाता है। इस कथन मे आशिक सत्य है, किन्तु पूर्ण सत्य नही। जगत् मे अनेक दर्शन ऐसे भी है जो मानव-मस्तिष्क के चिन्तन-व्यायाम से उद्भूत है, किन्तु अल्पज्ञ का मस्तिष्क, चाहे जितना भी उर्वर क्यो न हो, तत्त्व के सम्पूर्ण स्वरूप का स्पर्श नही कर सकता। मस्तिष्क की दौड की एक सीमा है। उसमें सीमित सत्य ही समा सकता है, किन्तु जब मनुष्य अति विश्वास का शिकार होता है और अपनी अक्षमता को स्वीकार न करके अपने आपको सर्वसमर्थ समझ बैठता है तो वह अपने द्वारा दृष्ट, अपूर्ण सत्य को पूर्ण समझ लेता है। उसे यह मालूम नही होता कि मैंने जो कुछ देखा, जाना या समझा है। उससे आगे भी बहुत कुछ है। वह उन अन्धो की टोली का ही एक सदस्य बन जाता है जो हाथी के एक-एक अग को ही परिपूर्ण हाथी समझकर आपस मे झगडने लगते है।

---

१८. दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्।

—सर्वदर्शन सग्रह टीका

सत्य एक है, किन्तु उसका निरूपण करने वाले दर्शन अनेक हैं और उनका निरूपण परस्पर विरोधी है। आत्मभिन्न पदार्थो की वात छोडिए और आत्मा को ही लीजिए। उसके विषय मे जितने मुँह उतनी बातें हैं। एक दर्शन का निरूपण दूसरे दर्शन से मेल नही खाता। एक दर्शन आत्मा के अस्तित्व का एकान्त निषेध करता है और दूसरा एकान्त विधान करता है। आत्मासम्बन्धी ये दोनो दृष्टियाँ क्या सत्य है ? सत्य कोई बहुरूपिया नही है, जो एक को अपना एक रूप और दूसरे को दूसरा रूप प्रदर्शित करे। इसके अतिरिक्त बहुरूपिया का भी असली रूप तो एक ही होता है। उसके अनेक रूप अवास्तविक है। तात्पर्य यह है कि मानवमस्तिष्क से उपजने वाले दर्शनो मे पूर्णता सम्भव नही है।

पूर्ण सत्य की उपलब्धि करने वाला दर्शन वही हो सकता है, जो दिव्यदृष्टि से उद्भूत होता है। दिव्यदृष्टि का अर्थ है—अतीन्द्रिय ज्ञान। तीव्र तपश्चर्या और गम्भीरतम आत्मानुभूति जब चरम सीमा को प्राप्त होती है, तब साधनानिरत पुरुष की आत्मा समस्त आवरणों को छिन्न-भिन्न करके अनन्त ज्ञान की लोकोत्तर ज्योति से जगमगाने लगती है। वह ज्योति इतनी निर्मल होती है कि उसमे प्रत्येक वस्तु अपने वास्तविक स्वरूप मे प्रतिभासित होती है। वह ज्योति इतनी पूर्ण होती है कि जगत् की सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु भी उससे अप्रकाशित नही रहती। वह ज्योति ऐसी अप्रतिहत होती है कि देश और काल की दीवारे उसकी गति को नही रोक सकती। वह ज्योति इतनी प्रखर होती है कि उसे प्राप्त करने वाला सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाता है।

दिव्यदृष्टि से उद्भूत दर्शन ही वास्तविक दर्शन है। वही वस्तुस्वरूप की यथार्थता का निदर्शक होता है। वह तर्क और युक्ति का संबल लेकर वस्तु के प्रत्येक पहलु पर चिन्तन करता है।

उद्देश्य

जैसा कि प्रारम्भ मे कहा जा चुका है, भारत मे धर्म और दर्शन का घनिष्ठ सम्बन्ध है और वे एक दूसरे के पूरक है। दोनो का

उद्देश्य एक ही है—अपवर्ग, निश्रेयस्, विदेह दशा, निर्वाण, आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति या ब्रह्म की प्राप्ति।

मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से कहती है—जिससे मैं अमृत नही बनती, उसे लेकर क्या करूँ? जो अमृतत्व का साधन हो, वही मुझे बताओ।[19]

इषुकार नरेश से रानी कमलावती कहती है—राजन् धर्म के अतिरिक्त कोई भी वस्तु त्राणप्रदाता नही है।[20]

इस प्रकार मैत्रेयी अपने पति से मोक्ष के साधनभूत दर्शन की माँग करती है और महारानी कमलावती अपने पति को मोक्ष के साधनभूत धर्म को ही त्राणप्रद बतलाती है। इन सम्वादो से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म और दर्शन दोनो का स्वर एक है।

पाश्चात्य विद्वान् धर्म और दर्शन को पृथक्-पृथक् मानते है। उन्होने दर्शन के लिए फिलासफी (Philosophy) शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है—बुद्धि का प्रेम (Love of wisdom)। दर्शन केवल बुद्धि का चमत्कार है। इस प्रकार पाश्चात्य विचार के अनुसार दार्शनिक वह है जो जीव, जगत्, परमात्मा और परलोक का निरपेक्ष विद्यानुरागी हो। वहाँ दर्शन केवल दर्शन के लिए है अर्थात् कोरा बुद्धिविलास है।

किन्तु भारतीय दर्शन का लक्ष्य बहुत ऊँचा है। उसका केन्द्रबिन्दु आत्मा है, अर्थात् अपने आपको सही रूप मे पहचानना है। साथ ही वह विश्व के समस्त पदार्थों की वास्तविकता को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। यहाँ दर्शन केवल कल्पनाकुशल कोविदो के मनोविनोद का साधन नही, मगर तत्त्व को जानकर हितप्रवृत्ति का

---

१९ येनाहं नामृता स्या, किं तेन कुर्याम्? यदेव भवान् वेद तदेव मे ब्रूहि।

—बृहदारण्यकोपनिषद्

२०. एगो हु धम्मो नरदेव! ताणं,
न विज्जए अन्नमिहेह किंचि।

—उत्तराध्य० १४, ४०

साधन है। आत्मोत्कर्ष के लिए व्यर्थ के काल्पनिक आदर्शों के गगन मे उड़ान भरने की अपेक्षा उन आदर्शों को जीवन मे उतारना अधिक उत्तम है।

आत्मोत्थान मे धर्म आचार के रूप मे साधन है तो दर्शन विचार के रूप मे। आचार और विचार के समन्वय से ही अभीष्ट की सिद्धि होती है। यही कारण है कि वैदिक दर्शन ने ज्ञानयोग और कर्मयोग के रूप मे[२१], बौद्ध दर्शन ने विद्या और चारित्र के रूप मे[२२] तथा जैनदर्शन ने सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के रूप[२३] मे आचार और विचार का समन्वय किया है।

आचारहीन विचार निष्फल है और विचारहीन आचार अन्धकार मे ठोकरे खाने के समान केवल आयासजनक ही होता है। दर्शन जीवन का प्रकाश है तो धर्म गति है। दर्शन जीवन की शक्ति है और धर्म जीवन की अभिव्यक्ति है। दर्शन से विचार की शुद्धि होती है और धर्म से आचार की विशुद्धि होती है।

संस्कृत साहित्य मे अन्ध-पगु न्याय प्रसिद्ध है। अन्धा चल सकता है, देख नही सकता। उसे उन्मार्ग और सन्मार्ग का विवेक नही होता। अतएव वह उन्मार्ग या विपरीत मार्ग पर चल कर अपने लक्ष्य से और अधिक दूर हो सकता है। पगु देख सकता है, पर चल नही सकता। उसका देखना किसी काम नही आता। अतएव दोनों मे समन्वय आवश्यक है। इसी प्रकार यह अनिवार्य है कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य आचार और विचार का समन्वय करे और शुद्ध विचार की रोशनी मे चले। यही धर्म और दर्शन का समन्वय है।

---

२१. देखिए भगवद्गीता।

२२. अगुत्तरनिकाय, ११–११

२३. आहसु विज्जा चरण पमोक्ख।

—सूत्रकृत

(ख) स्थानाग, २–६३

(ग) तत्त्वार्थसूत्र, १–१

(घ) आवश्यकनियुक्ति गा० ६४ और ६६

दो | अध्यात्मवाद : एक अध्ययन

भारतवर्ष सदैव अध्यात्म-विद्या की लीलाभूमि रहा है। प्रतापपूर्ण प्रतिभासम्पन्न विज्ञो ने अध्यात्म क्षेत्र मे जिस चिरन्तन सत्य का साक्षात्कार किया, उसकी प्रभास्वर रश्मिमाला से विश्व का प्रत्येक भूभाग आलोकित है। भारतीय इतिहास व साहित्य प्रस्तुत कथन का ज्वलन्त प्रमाण है कि आध्यात्मिक गवेषणा, अन्वेषणा और उसका सम्यक् आचरण ही भारत के सत्य-शोधी साधको के जीवन का एकमात्र अभिलषित लक्ष्य रहा है। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के द्वारा ही भारत ने विश्व का नेतृत्व किया और विश्वगुरु के महत्त्वपूर्ण पद से अपने को समलकृत किया।

भारतीय सस्कृति की समुज्ज्वल विचारधाराएँ विवध रूपो व रगो मे व्यक्त हुई हैं, जिनकी गणना करना असम्भव न सही, कठिन अवश्य है। तथापि यह निर्विवाद है कि जैन, बौद्ध और वैदिक ये तीनो धाराएँ ही उनमे प्रमुख हैं। इन त्रिविध धाराओ मे ही प्राय अन्य सभी धाराएँ अन्तर्हित हो जाती हैं। उनमे अध्यात्म विद्या की गरिमा का जो मधुर गान गाया गया है वह भौतिक-भक्ति के युग मे पले-पुसे इन्सान को भी विस्मय से विमुग्ध कर देता है। विमुग्ध ही नही, जो मानव भौतिकता की चकाचौंध मे प्रतिपल, प्रतिक्षण बहिर्द्रष्टा बनते जा रहे हैं, जिन्हे अन्तर्दर्शन का अवकाश नही है, आत्ममार्जन की चिन्ता नही है, अन्तर्तम की परिशुद्धि और परिष्कृति का उद्देश्य जिनके सामने नही है केवल बहिर्दर्शन ही जिनके जीवन का परम और चरम ध्येय है, उन्हे भी प्रस्तुत सगीत एक बार तो आत्मदर्शन की पवित्र प्रेरणा प्रदान करता ही है।

मैं कौन हूँ, ? कहाँ से आया हूँ, ?[१] यहाँ से कहाँ जाऊँगा ? क्या मेरा पुनर्जन्म होगा ? मेरा स्वरूप क्या है ? क्या मैं देह हूँ ? इन्द्रिय हूँ ? मन हूँ ? या इन सबसे भिन्न कुछ हूँ ? इन सभी प्रश्नो का सही समाधान भारत के मनीषी मूर्धन्य-मुनियो ने प्रदान किये है। भाषा, परिभाषा, प्रतिपादनपद्धति और परिष्कार मे अन्तर होने पर भी सूक्ष्म व समन्वय दृष्टि से अवलोकन करने पर सूर्य के प्रकाश की भाँति यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे सभी एक ही राह के राही है।

जैन दृष्टि :

भारतीय सस्कृति मे जैन सस्कृति का स्वतन्त्र स्थान है, स्वतन्त्र विचारधारा है, और स्वतन्त्र निरूपण पद्धति है। जैन दर्शन को जिन-दर्शन या आत्म-दर्शन भी कह सकते है। जैनदर्शन मे आत्मा के लक्षण और स्वरूप के सम्बन्ध मे अत्यन्त सूक्ष्म गम्भीर और व्यापक विचार किया गया है। जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा चैतन्य स्वरूप है, षट् द्रव्यो मे स्वतन्त्र द्रव्य है।[3] नव पदार्थों मे प्रथम पदार्थ है।[४] सप्त तत्त्व मे प्रथम तत्त्व है।[५] पंचास्तिकाय मे चतुर्थ अस्ति काय है।[६]

---

१. आचाराग, प्रथम अध्ययन।

२. जीवे ण भते ! जीवे, जीवे जीवे ? गोयमा ! जीवे ताव नियमा जीवे, जीवे वि नियमा जीवे।

—भगवती ६।१०

३. धम्मो अधम्मो आगासो, कालो पुग्गल जतवो।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदसिहिं॥

—उत्तराध्ययन २८

४. नव सब्भावपयत्था प० त० जीवा अजीवा पुण्ण पावो
आसवो सवरो णिज्जरा वधो मोक्खो।

—ठाणाङ्ग ६।८६७

५. जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।

—तत्त्वार्थ० १।४

६. पच अत्थिकाया प० त० धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए।
आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए।

—ठाणाङ्ग ५।२।५३०

(ख) भगवती २।१०। पृ० ५२३

उपयोग ही उसका मुख्य लक्षण है।[७] उपयोग शब्द ज्ञान और दर्शन का संग्राहक है। चेतना के बोधरूप व्यापार को उपयोग कहते है। वह दो प्रकार का है—(१) साकार उपयोग (२) और अनाकार उपयोग। साकार उपयोग ज्ञान है और अनाकार उपयोग दर्शन है। जो उपयोग पदार्थों के विशेष धर्म का (जाति, गुण, क्रिया आदि का) बोध कराता है वह साकार उपयोग है और जो सामान्य सत्ता का बोध कराता है वह अनाकार उपयोग है। यो आत्मा में अनन्त गुण पर्याय हैं किन्तु उन सभी मे उपयोग ही प्रमुख और असाधारण है। वह स्व-पर प्रकाशक होने से अपना तथा दूसरे द्रव्य, गुण, पर्यायो का ज्ञान करा सकता है। सुख-दु ख का अनुभव करना, अस्ति-नास्ति को जानना, यह सब उपयोग का ही कार्य है। उपयोग जड़ पदार्थो मे नही होता क्योकि उनमें चेतना शक्ति का अभाव है।

आत्मा को ज्ञानस्वरूप कहा है।[८] इसका अर्थ यह नही कि वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है, इसमे दर्शन भी है, आनन्द भी है,

---

७ उवओगलक्खणेण जीवे।

—भगवती १३।४।४८०

(ख) गुणओ उवओगगुणो।

—ठाणाङ्ग ५।३।५३०

(ग) जीवो उवओगलक्खणो।

—उत्तराध्ययन २८।१०

(घ) उवओगलक्खणे जीवे।

—भगवती २।१०

(ङ) उपयोगो लक्षणम्।

—तत्त्वार्थ सूत्र २।८

(च) जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता ससारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥

—द्रव्य सग्रह : नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती

८ आया भते! नाणे अन्नाणे? गोयमा आया सिय नाणे, सिय अन्नाणे, णाणे पुण नियम आया।

—भगवती १६।३

अनन्तवीर्य भी है, अन्य धर्म भी हैं। वस्तुत ज्ञान और आत्मा में गुण-गुणी का तादात्म्य सम्बन्ध है। ज्ञान गुण है, आत्मा गुणी (द्रव्य) है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए भगवती सूत्र मे कहा है—आत्मा ज्ञान भी है, और ज्ञान के अतिरिक्त भी है किन्तु ज्ञान नियम से आत्मा ही है। आत्मा साक्षात् ज्ञान है, और ज्ञान ही साक्षात् आत्मा है।[९] जो आत्मा है वही विज्ञाता है, जो विज्ञाता है वही आत्मा है। जो इस तत्त्व को स्वीकार करता है वह आत्मवादी है।[१०] ज्ञान और आत्मा के द्वैत को जैन दर्शन स्वीकार नही करता है। आत्मा और ज्ञान मे तादात्म्य है, वे अलग-अलग तत्त्व नही हैं, जैसा कि कणाद आदि स्वीकार करते है।

विस्तार की दृष्टि से आत्मा का लक्षण बतलाते हुए भगवान् महावीर ने कहा—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य, उपयोग ये जीव के लक्षण हैं।[११] अर्थात् आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य (शक्ति) और उपयोगमय है।

आत्मा अरूपी है।[१२] शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श से रहित है।[13] वह न लम्बा है न छोटा है, न टेढा है न गोल, न चौरस है, न मण्डलाकार है अर्थात् उस की अपनी कोई आकृति नही है। न

---

९. आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञान, ज्ञानादन्यत् करोति किम् ?

—आचार्य अमृतचन्द्र

१०. जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया।
जेण विजाणाति से आया, त पडुच्च पडिसखाए, से आयावादी।

—आचारांग १

११. नाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा।
वीरिय उवओगो य, एव जीवस्स लक्खण॥

—उत्तराध्ययन २८।११

१२ अरूवी सत्ता..... ..।

—आचाराग ६।१।३३३

(ख) चत्तारि अत्थिकाया अरूविकाया प० त० जीवत्थिकाए . . ।

—स्थानाङ्ग ४।१।३१४

१३. से ण सद्दे, ण रूवे, ण गधे, ण रसे, ण फासे,

—आचारांग ६।१।३३३

हल्का है, न भारी है। क्योकि लघुता-गुरुता जड के धर्म हैं। वह न स्त्री है, न पुरुष है,[१४] क्योकि ये शरीराश्रित उपाधिया हैं। वह अनादि है, अनिधन है, अविनाशी है, अक्षय है, ध्रुव और नित्य है।[१५] वह पहले भी था, अब भी है और भविष्य मे भी रहेगा,[१६] तीनो कालो मे भी वह जीव रूप मे ही विद्यमान रहता है। जीव कभी अजीव नही होता[१७] लोक मे जीव और अजीव शाश्वत है।[१८] आत्मा

(ख) जीवत्थिकाए ण अवन्ने, अगधे, अरसे, अफासे, अरूवी...
भावतो अवन्ने, अगन्धे, अरसे, अफासे, अरूवी,

—स्थानाङ्ग ५।३।५३०

(ग) जीवत्थिकाए ण भते ! कतिवन्ने, कतिगधे, कतिरसे, कतिफासे ?
गोयमा ! अवण्णे जाव अरूवी।

—भगवती २०।१०

१४. से ण दीहे, ण हस्से, ण वट्टे, ण तसे, ण चउरसे, ण परिमडले, ण किण्हे, ण णीले, ण लोहिए, ण हालिद्दे, ण सुक्किल्ले, ण सुरहिगन्धे, ण दुरहिगन्धे, ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अविले, ण महुरे, ण कक्खडे, ण मउए, ण गरुए, ण लहुए, ण सीए, ण उण्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे, ण काऊ, ण रूहे, ण सगे, ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अन्नहा, परिण्णे सण्णे।

—आचाराग ३।१।३३१

१५. जीवो अणाइअनिधनो अविणासी अक्खओ धुओ णिच्च।

—भगवती

१६. कालओ ण कयाइ णासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइत्ति भुवि भवइ य भविस्सइ य धुव णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे।

ठाणाङ्ग ५।३।५३०

(ख) भगवती १।४।४१

१७. ण एव भूय वा भव्व वा भविस्सइ वा ज जीवा अजीवा भविस्सन्ति अजीवा वा जीवा भविस्सन्ति।

—ठाणाङ्ग १०।१।६३१

१८. के सासया लोए ? जीवच्चेव अजीवच्चेव।

—ठाणाङ्ग २।४।१५१

ज्ञान मय असंख्य प्रदेशों का पिण्ड है। वह अरूप है, एतदर्थ नेत्रों से देखा नही जाता, किन्तु चेतना गुणों से उसका अस्तित्व जाना जा सकता है। वह वाणी द्वारा प्रतिपाद्य[19] और तर्क द्वारा गम्य नही है।[20]

गणधर गौतम के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् महावीर ने अनेकान्त की भाषा मे आत्मा को जहाँ नित्य बताया है, वहाँ अनित्य भी बताया है।

एक समय की बात है। भगवान् महावीर के चरणारविन्दो मे गौतम स्वामी आए। वन्दना करके विनम्र भाव से बोले—भगवन् ! जीव नित्य है या अनित्य है ?

भगवान् बोले—गौतम ! जीव नित्य भी है और अनित्य भी।

गौतम—भगवन् ! यह किस हेतु से कहा गया कि जीव नित्य भी है और अनित्य भी !

भगवान्—गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है।[21]

अभिप्राय यह है कि जीवत्व की दृष्टि से जीव शाश्वत है। अपने मूल द्रव्य के रूप मे उसकी सत्ता त्रैकालिक है। अतीतकाल मे जीव था, वर्तमान मे है और भविष्य मे भी रहेगा, क्योकि सत् पदार्थ कभी असत् नही होता। इस प्रकार द्रव्यत नित्य होने पर भी जीव पर्यायत अनित्य है, क्योकि पर्याय की दृष्टि से वह सदा परिवर्तनशील है। जीव विविध गतियो मे, विभिन्न अवस्थाओ मे परिणत होता रहता है।

जैसे सोने के कुण्डल, मुकुट, हार आदि अनेक आभूषण बनने पर भी, नाम और रूप मे अन्तर पड़ जाने पर भी सोना-सोना ही रहता

---

१९. अपयस्स पयं णत्थि।
—आचारांग ६।१।३३२

२०. सव्वे सरा णियट्टन्ति, तक्का जत्थ ण विज्जइ। मई तत्थ ण गाहिता''' ।
—आचारांग ६।१।३३०

२१. भगवती, शतक ७, उद्दे० २

है, वैसे ही विविध योनियो मे भ्रमण करते हुए जीव के पर्याय बदलते हैं—रूप और नाम बदलते हैं—मगर जीव द्रव्य वही रहता है।

जीवन मे सुख और दु ख किस कारण से पैदा होते है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—आत्मा ही अपने सुख और दु ख का कर्ता है, और भोक्ता है।[22] आत्मा ही अपने कृत कर्मो के अनुसार विविध गतियो मे परिभ्रमण करता है[23] और अपने ही पुरुपार्थ से कर्मपरम्परा का उच्छेद कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बनता है।[24]

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आत्मा का कोई आकार नही है, किन्तु सकर्मक आत्मा किसी न किसी शरीर के साथ ही रहती है, अतएव प्राप्त शरीर का आकार ही उसका आकार हो जाता है। इस कारण जैन दर्शन में आत्मा को कायपरिमित माना गया है। आत्मा स्वभावत असख्यात प्रदेशी है, और उसके प्रदेश संकोच-विकास-शील होते हैं। अतएव वह कर्मोदय के अनुसार जो शरीर उसे प्राप्त होता है, उसी मे उसके समस्त प्रदेशो का समावेश हो जाता है। इस प्रकार न आत्मा शरीर के एक भाग मे रहती है, न शरीर के बाहर होती है और न सर्वव्यापी है। अलबत्ता केवलीसमुद्घात के समय उसके प्रदेश समस्त लोक मे व्याप्त हो जाते है, इस अपेक्षा से उसे लोकव्यापक कहा जा सकता है।[25] मगर एकसमयभावी उस अवस्था की विवक्षा नही करके आत्मा शरीरप्रमाण ही मानी जाती है।

---

२२. उत्तरा० २०।३७

२३. जमिण जगई पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पन्ति पाणिणो।
सयमेव कडेहि गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठय ॥

—सूत्रकृताङ्ग १२।१।४

२४ जह य परिहीण-कम्मा सिद्धा सिद्धालयमुवेति।

—औपपातिक

२५. द्रव्यसग्रह, ब्रह्मदेवकृत टीका १०

जैसे दीपक को एक घड़े के नीचे रख दिया जाय तो उसका प्रकाश घड़े मे समा जाता है। उसी दीपक को यदि किसी विशाल कमरे मे रख दें तो वही प्रकाश फैलकर उस कमरे को व्याप्त कर लेता है और यदि खुले आकाश मे रख दें तो और भी अधिक क्षेत्र को अवगाहन कर लेता है, उसी तरह आत्मप्रदेशो का संकोच और विस्तार होता है। यह अनुभवसिद्ध है कि शरीर मे जहाँ कही चोट लगती है वहाँ सर्वत्र दु ख अनुभव होता है। शरीर से वाहर किसी भी वस्तु को काटने पर दु.ख अनुभव नही होता। यदि शरीर से वाहर आत्मा होता तो अवश्य ही दुःख होता, अतः आत्मा सर्वव्यापी न होकर देहप्रमाण ही है।[२६]

गौतम ने जिज्ञासा व्यक्त की—भगवन्। जीव संख्यात हैं, असख्यात है या अनन्त है? भगवान् ने समाधान किया—गौतम? जीव अनन्त है।[२७]

जीवो की सख्या कभी न्यूनाधिक होती है या अवस्थित रहती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा—गौतम! जीव कभी कम और कभी अधिक नही होते किन्तु अवस्थित रहते हैं।[२८] अर्थात् जीव सख्या की दृष्टि से सदा अनन्त रहते हैं।[२९] अनन्त होने

---

२६. सदेहपरिणामो।

—द्रव्यसग्रह

२७. जीवदव्वा ण भन्ते! किं सखेज्जा, असखेज्जा, अणता? गोयमा! नो सखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणता।

—भगवती २५।२।७१६

(ख) के अणंता लोए? जीवच्चेव अजीवच्चेव।

—ठाणाङ्ग २।४।१५१

२८. भन्ते त्ति भगव गोयमे जाव एवं वयासी—जीवाण भन्ते! किं वड्ढन्ति हायन्ति, अवट्ठिया? गोयमा! जीवा णो वड्ढंति नो हायन्ति अवट्ठिया। जीवाणं भन्ते केवइय काल अवट्ठिया (वि)? सव्वद्धं।

—भगवती ५।८।२२१

२९. दव्वओ ण जीवत्थिकाए अणताइं जीवदव्वाइ।

—भगवती २।१०।११७

पर भी सभी आत्माएँ चेतन और असख्यात प्रदेशी है, अत एक हैं।[30] क्षेत्र की दृष्टि से जीव लोकपरिमित है। जहाँ लोक है वहाँ जीव है। जहा तक जीव है वहाँ तक लोक है।[31]

आत्मा अच्छेद्य है, अभेद्य है, उसे अग्नि जला नही सकती, शस्त्र काट नही सकता।[32] जीव कदापि विलय को प्राप्त नही होता। यह एक परखा हुआ सिद्धान्त है कि अस्तित्व अस्तित्व मे परिणमन करता है और नास्तित्व नास्तित्व मे परिणमन करता है।[33] द्रव्य से अस्तित्व वान् जीव भविष्य मे नास्तित्व में परिणमन नही कर सकता।

(ख) दव्वओ ण जीवत्थिकाए अणताइ दव्वाइ ।

—ठाणाङ्ग ५।३।५३०

३०. एगे आया ।

—ठाणाङ्ग १।१

३१. जाव ताव लोगे ताव ताव जीवा, जाव ताव जीवा ताव ताव लोए ।

—ठाणाङ्ग १०।६३१

३२. से न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्झइ न हम्मइ कचण सव्वलोए ।

—आचाराग १।३।३

(ख) अह भते ! कुम्भे कुम्भावलिया गोहे गोहावलिया गोणे गोणावलिया मणुस्से मणुस्सावलिया महिसे महिसावलिया, एएसि ण दुहा वा तिहा वा सखेज्जहा वा छिन्नाण जे अन्तरा तेवि ण तेहि जीवपएसेहि फुडा ? हन्ता फुडा। पुरिसे ण भते ! (ज अतर) ते अन्तरे हत्थेण वा पाएण वा अगुलिया वा सलागाए वा कट्ठेण वा कलिचेण वा आमुसमाणे वा समुसमाणे वा आलिहमाणे वा विलिहमाणे वा अन्नयरेण वा तिक्खेण सत्थजाएण आच्छिन्दमाणे वा विच्छिन्दमाणे वा अगणिकाएण वा समोडहमाणे तेसि जीवपएसाण किंचि आवाह वा विवाह वा उप्पायइ छविच्छेद वा करेइ ? णो तिणट्ठे समट्ठे, नो खलु तत्थ सत्थ संकमइ।"

—भगवती ८।३।३२४

३३. से णूण भन्ते ! अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ, नत्थित्त नत्थित्ते परिणमइ ? हन्ता गोयमा ! जाव परिणमइ ।

—भगवती १।३।३२

जैसे दूध और पानी बहिर्दृष्टि से एक प्रतीत होते हैं वैसे ही ससारी दशा मे जीव और शरीर एक लगते है, पर वे पृथक्-पृथक् हैं।

वादिदेव सूरि ने सक्षेप मे सासारिक आत्मा का स्वरूप इस प्रकार बताया है। "आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाणो से सिद्ध है। वह चैतन्यस्वरूप है, परिणामी है, कर्मो का कर्त्ता है। सुख-दु ख का साक्षात् भोक्ता है, स्वदेहपरिमाण है, प्रत्येक शरीर मे भिन्न है, पौद्गलिक कर्मों से युक्त है।"[३४] प्रस्तुत परिभाषा मे जैन दर्शन-सम्मत आत्मा का पूर्णरूप आ गया है।

आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व की सिद्धि के लिए श्री जिनभद्र गणी ने विशेषावश्यक भाष्य मे विस्तार से अन्य दार्शनिको के तर्को का खण्डन कर आत्मा की ससिद्धि की है। विस्तार भय से वह सारी चर्चा यहाँ नही की जा रही है। पाठको को मूल ग्रन्थ देखना चाहिए।[३५]

जैन आगम साहित्य मे भी यथाप्रसंग नास्तिक दर्शन का उल्लेख कर उसका निराकरण किया गया है। सूत्रकृताङ्ग मे अन्य मतो का निर्देश करते हुए नास्तिको के सम्बन्ध मे कहा है—"कुछ लोग कहते है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, अकाश—ये पाँच महाभूत है। इन पाँच महाभूतो के योग से आत्मा उत्पन्न होता है और इनके विनाश व वियोग से आत्मा भी नष्ट हो जाता है।[३६]

---

३४. प्रमाता प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्मा। चैतन्यस्वरूप. परिणामी कर्ता साक्षाद् भोक्ता स्वदेहपरिमाण प्रतिक्षेत्र भिन्न पौद्गलिकादृष्टवाश्चायम्।

—प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।५५-५६

३५. विशेपावश्यकभाष्य।

३६. सन्ति पच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया।
पुढवी आउ तेउ वा, वाउ आगास पचमा॥
एए पच महब्भूया, तेब्भो एगोत्ति आहिया।
अह तेसि विणासेण, विणासो होइ देहिणो॥

—सूत्रकृताङ्ग अ० १। गाथा ७-८

आचार्य शीलाङ्क ने प्रस्तुत गाथाओ की वृत्ति मे लिखा है—भूतसमुदाय काठिन्य आदि धर्मो वाले हैं। उनका गुण चैतन्य नही है। पृथक्-पृथक् गुण वाले पदार्थो के समुदाय से किसी अपूर्व गुण वाले पदार्थ की निष्पत्ति नही होती। जैसे रूक्ष बालुकणो के समुदाय से स्निग्ध तैल की उत्पत्ति नही होती, वैसे ही चैतन्य गुण वाली आत्मा की जडत्व धर्म वाले भूतो से उत्पत्ति होना सम्भव नही।[३७] भिन्न गुण वाले पाँच भूतो के सयोग से चेतनागुण की निष्पत्ति नही होती। यह प्रत्यक्ष है कि पाँचो इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय का ही परिज्ञान करती हैं। एक इन्द्रिय द्वारा जाने हुए विषय को दूसरी इन्द्रिय नही जानती, किन्तु पाँचो इन्द्रियो के जाने हुए विषय को समष्टि रूप से अनुभूति कराने वाला द्रव्य कोई भिन्न ही होना चाहिए और उसे ही आत्मा कहते है।[३८]

इस प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में जैन दर्शन के मौलिक और स्पष्ट विचार है।

बौद्ध दृष्टि :

महात्मा बुद्ध ने सासारिक विषयासक्ति से दूर रहकर आत्म-गवेषणा और आत्म-शान्ति का उपदेश दिया है। उन्होने कहा—आत्मदीप होकर विहार करो, आत्मशरण, अनन्यशरण ही रहो—"अत्तदीपा विहरथ, अत्तसरणा अनञ्ञसरणा"।[३९] उनकी दृष्टि से जो

---

३७. भूतसमुदाय स्वातन्त्र्ये सति धर्मित्वेनोपादीयते न तस्य चेतनाख्यो गुणोऽस्तीति साध्यो धर्म, पृथिव्यादीनामन्यगुणत्वात्। यो योऽन्यगुणाना समुदायस्तत्राऽपूर्वगुणोत्पत्तिर्न भवतीति। यथा सिकतासमुदाये स्निग्ध गुणस्य तैलस्य नोत्पत्तिरिति, घटपटसमुदाये वा न स्तम्भादयो विभावा इति, दृश्यते च कार्यंचैतन्य तदात्मगुणो भविष्यति न भूतानामिति।

—सूत्रकृताङ्ग वृत्ति

३८. पचण्ह सजोगे अण्णगुणाण न चेयणाई गुणो होइ।
पचिन्दिय ठाणाण सा अण्णमुणिय मुणई अण्णो॥

—सूत्रकृताङ्ग-शीलाकवृत्ति

३९ दीघनिकाय ३।३।१

निर्मोही है वही अक्षय आध्यात्मिक आनन्द का अधिकारी है। और वह सुख बिना काम-सुख त्यागे प्राप्त नही हो सकता।[४०]

कामसुख हीन और अनार्य है। जब तक उसका परित्याग नही किया जाता, उस पर विजय प्राप्त नही की जाती, तब तक आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव नही होता।[४१]

आध्यात्मिक सुखानुभूति होने के पश्चात् पुन. प्राणी किसी सासारिक सुखतृष्णा में नही पड़ सकता। यह आध्यामिक सुख सम्राटो के और देवताओ के सुख से बढकर है।[४२]

आत्मशरण की प्रबल प्रेरणा देने पर भी बौद्ध दर्शन आत्मा के सम्बन्ध मे एक निराली दृष्टि रखता है। वह किसी दृष्टि से आत्मवादी है और किसी दृष्टि से अनात्मवादी भी है। एक ओर पुण्य, पाप, पुनर्जन्म, कर्म, स्वर्ग, नरक, मोक्ष को स्वीकारने के कारण आत्मवादी है तो दूसरी ओर आत्मा के अस्तित्व को सत्य नही किन्तु काल्पनिक सज्ञा मानने के कारण अनात्मवादी है।

महात्मा बुद्ध ने अनात्मवाद का उपदेश दिया है। इसका अर्थ आत्मा जैसे पदार्थ का सर्वथा निषेध नही है, किन्तु उपनिषदो मे जो

---

४० तो क्या मानते हो मागन्दिय! क्या तुमने कभी देखा या सुना है किसी को विषय भोगो से लिप्त विषयो को बिना छोडे, काम दाह बिना त्यागे, काम तृष्णा बिना छोडे, पिपासारहित होकर अपने अन्दर शान्ति अनुभव करते हुए? नही, भो गौतम! साधु मागन्दिय! मैंने भी नही देखा न सुना।

—मज्झिम नि० (मागन्दिय सुत्तन्त,) २।३।५

४१. मज्झिम निकाय १।४।८ (महातण्हासखय-सुत्तन्त)।

४२. यथा हि राजा रज्जसुख देवता दिव्व सुख अनुभवन्ति एवं अरिया अरिय लोकुत्तर सुख अनुभविस्सामीति इच्छितिच्छ तक्खणे फल-समापत्ति समापज्जन्ति।

—विसुद्धिमग्ग ३।८

शाश्वत, अद्वैत आत्मा का निरूपण किया गया है और उसे संसार का एक मात्र मौलिक तत्त्व माना है, उसका खण्डन है। यद्यपि चार्वाक की तरह बुद्ध भी अनात्मवादी हैं किन्तु बुद्ध पुद्गल, आत्मा, जीव चित्त आदि को एक स्वतन्त्र वस्तु मानते हैं जबकि चार्वाकदर्शन चार या पाँच भूतो से समुत्पन्न होने वाली परतन्त्र वस्तु मानते हैं। महात्मा बुद्ध भी जीव, पुद्गल, अथवा चित्त को अनेक कारणो से समुत्पन्न मानते हैं और इस दृष्टि से वह परतन्त्र भी है, किन्तु इस उत्पत्ति में जो मूल कारण है उनमें विज्ञान और विज्ञानेतर दोनो प्रकार के कारण रहते है, जबकि—चार्वाक दर्शन में चैतन्य की उत्पत्ति में चैतन्य से अतिरिक्त भूत ही कारण है, चैतन्य नही। साराश यह है कि भूतो के सदृश विज्ञान भी एक मूल तत्त्व है, जो बुद्ध की दृष्टि से जन्य और अनित्य है किन्तु चार्वाक भूतो के अतिरिक्त विज्ञान को मूल तत्त्व नही मानते। चैतन्य विज्ञान की संतति-धारा को बुद्ध अनादि मानते हैं किन्तु चार्वाक नही।[४३]

महात्मा बुद्ध का मन्तव्य था कि जन्म, जरा, मरण आदि किसी स्थायी ध्रुव जीव के नही होते, किन्तु वे सभी विशिष्ट कारणो से समुत्पन्न होते हैं। अर्थात् जन्म, जरा, मरण इन सबका अस्तित्व तो है, किन्तु उसका स्थायी आधार वे स्वीकार नही करते।[४४] जहाँ उन्हे चार्वाक का देहात्मवाद स्वीकार नही है वहाँ उपनिषद् का शाश्वत आत्म स्वरूप भी अमान्य है। उनके मन्तव्यानुसार आत्मा शरीर से अत्यन्त भिन्न भी नही है और न शरीर से अभिन्न ही है। चार्वाक दर्शन एकान्त भौतिकवादी है, उपनिषदो की विचार धारा एकान्त कूटस्थ आत्मवादी है, किन्तु बुद्ध का मार्ग मध्यम मार्ग है। जिसे बौद्ध दर्शन मे प्रतीत्यसमुत्पाद—अमुक वस्तु की अपेक्षा से अमुक वस्तु उत्पन्न हुई—कहा है।

---

४३. आत्म मीमासा— प० दलसुख मालवणिया पृ० २८ का साराश।

४४ सयुत्त निकाय १२–२६।

(ख) अगुत्तर निकाय ३,

(ग) दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्त,

(घ) मयुत्तनिकाय १२।१७।२४

(ङ) विसुद्धिमग्ग १७।१६६–१७४

जब कभी भी महात्मा बुद्ध से आत्मा के सम्बन्ध में किसी जिज्ञासु ने प्रश्न किया तब उसका उत्तर न देकर वे मौन रहे हैं। मौन रहने का कारण पूछने पर उन्होंने कहा—यदि मैं कहूँ कि आत्मा है तो लोग शाश्वतवादी बन जाते हैं और यदि कहूँ कि आत्मा नही है तो लोग उच्छेदवादी हो जाते हैं, एतदर्थ उन दोनो के निषेध के लिए मैं मौन रहता हूँ।[४५] एक स्थान पर नागार्जुन लिखते हैं—"बुद्ध ने यह भी कहा है कि आत्मा है और यह भी कहा है कि आत्मा नही है।[४६] बुद्ध ने आत्मा अनात्मा किसी का भी उपदेश नही दिया।

आत्मा क्या है ? कहाँ से आया है और कहाँ जायेगा ? इन प्रश्नो के उत्तर भगवान् महावीर ने स्पष्टता से प्रदान किये है। उनका उत्तर देते समय बुद्ध ने उपेक्षा प्रदर्शित की है और उन्हे अव्याकृत कहकर छोड़ दिया है।[४७] वे मुख्यत दु ख और दु ख निरोध, इन दो तत्त्वो पर प्रकाश डालते है। उन्होने अपने प्रिय शिष्य को कहा—"तीर से व्यथित व्यक्ति के घाव को ठीक करने की बात विचारनी चाहिए। तीर कहाँ से आया है ? किसने मारा है ? इसे किसने बनाया है ? मारने वाले का रंग रूप कैसा है ? आदि आदि प्रश्न करना निरर्थक है।"

बौद्ध दर्शन में आत्म तत्त्व के लिए पृथक्-पृथक् स्थलो पर कही मुख्य रूप से और कही गौण रूप से अनेक शब्द व्यवहृत हुए हैं। जैसे कि पुग्गल, पुरिस, सत्त, जीव, चित्त, मन, विज्ञान, नाम रूप आदि।[४८]

४५　अस्तीति शाश्वतग्राही, नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।
तस्मादस्तित्व-नास्तित्वे; नाश्रीयेत विचक्षण.॥
—माध्यमिक कारिका १८।१०

४६.　आत्मेत्यपि प्रज्ञापित-मनात्मेत्यपि देशितम्।
बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा, कश्चिदित्यपि देशितम्॥
—माध्यमिक कारिका १६।६

४७.　(क) मिलिन्द प्रश्न २।२५-३३ पृ० ४१-५२
(ख) न्यायावतारवार्तिक वृत्ति की प्रस्तावना पृ० ६
(ग) मज्झिमनिकाय, चूलमालुंक्य सुत्त ६३

४८.　सब्बे सत्ता अवेरा''''सब्बे पाणा ''सब्बे भूता''''सब्बे पुग्गला''''।
—पटसंभिदा २।१३०

लौकिक दृष्टि से आत्मा की सत्ता है, जो विज्ञान वेदना, सज्ञा, सस्कार और रूप—इन पाँच स्कन्धो का सघातमात्र है किन्तु पारमार्थिक रूप से आत्मा नही है।[४९]

"मिलिन्द प्रश्न" मे भदत नागसेन और राजा मिलिन्द का सवाद है। राजा मिलिन्द के प्रश्न के उतर में भदन्त नागसेन ने बताया कि पुद्गल का अस्तित्व केश, दाँत आदि शरीर के अवयवो तथा रूप, वेदना, सज्ञा सस्कार, विज्ञान इन सबकी अपेक्षा से है, किन्तु पारमार्थिक तत्त्व नही है।[५०]

सक्षेप मे यदि कहना चाहे तो बौद्धदर्शन आत्मा को स्थायी नही, किन्तु चेतना का प्रवाहमात्र मानता है। दीपशिखा के रूपक से प्रस्तुत कथन का प्रतिपादन किया गया है। जैसे दीपक की ज्योति जगमगा रही है। किन्तु जो लौ पूर्व क्षण मे है, वह द्वितीय क्षण मे नही। तेल प्रवाह रूप मे जल रहा है, लौ उसके जलने का परिणाम है, प्रतिपल, प्रतिक्षण वह नई उत्पन्न हो रही है किन्तु उसका बाह्य रूप उसी प्रकार स्थितिशील पदार्थ के रूप मे दृष्टिगोचर हो रहा है। बौद्धदर्शन के अनुसार आत्मा के सम्बन्ध मे भी ठीक यही स्थिति चरितार्थ होती है। स्पष्ट है कि बौद्ध-दर्शन अनात्मवादी होते हुए भी आत्मवादी है।

वैदिक दृष्टि :

उपनिषद् आदि परवर्ती साहित्य मे जिस प्रकार आत्म-मीमासा की गई है वैसी मीमासा वेदो मे नही है।

कठोपनिषद् मे नचिकेता का एक मधुर प्रसंग है। वालक नचिकेता के पिता ऋषि वाजश्रवस् ने भीष्म प्रतिज्ञा ग्रहण की कि "मैं सर्वस्व दान दूंगा।" प्रतिज्ञानुसार सब कुछ दान दे दिया। वालक नचिकेता ने विचार किया—पिता ने अन्य वस्तुएं तो दान दे दी हैं पर अभी तक मुझे दान में क्यो नही दिया? उसने पिता से पूछा—आप

(ख) विशुद्धिमग्ग, ६।१६

४९. मिलिन्द प्रश्न

५० मिलिन्द प्रश्न २।४। सू० २६८।

मुझे किसको दान दे रहे है ? पिता मौन रहे। उसने पुनः वही प्रश्न दोहराया, फिर भी पिता का मौन भंग नही हुआ। तृतीय बार कहने पर पिता को क्रोध आ गया और उसने झुंझला कर कहा—जा तुझे यमराज को दिया। बालक नचिकेता यम के घर पहुँचा। यमराज घर पर नही थे। वह भूखा और प्यासा तीन दिन तक यमराज के द्वार पर बैठकर उनकी प्रतीक्षा करता रहा। यमराज आये। बालक की भद्रता पर वे मुग्ध हो गये। तीन वर माँगने के लिए कहा। नचिकेता ने तीसरा वर माँगा—मृत्यु के पश्चात् कुछ कहते हैं मानव की आत्मा का अस्तित्व है, कुछ कहते हैं नही है, सत्य तथ्य क्या है; यह आप मुझे बतायें—यही मेरा तृतीय वर है।[५१]

यमराज ने अन्य वर माँगने की प्रेरणा दी, पर नचिकेता अपने कथन से तनिक भी विचलित नही हुआ। उसने कहा—मुझे वही विधि बताइये, जिससे अमरता प्राप्त हो। यमराज ने कहा—तू इस आत्म-विद्या के लिए आग्रह न कर, इसका ज्ञान होना साधारण बात नही है। देवता भी इस विषय मे सन्देहशील रहे हैं।[५२] पर नचिकेता की तीव्र जिज्ञासा से यमराज ने प्रसन्न होकर आत्मसिद्धि का सूक्ष्म रहस्य उसे बताया। आत्म-विद्या व योगविधि को पाकर नचिकेता को ब्रह्मानन्द अनुभव हुआ। उसका राग-द्वेष नष्ट हो गया। इसी प्रकार जो आत्म-तत्त्व को पाकर आचरण करेंगे वे भी अमरता को प्राप्त करेंगे।[५३]

---

५१. येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये,
अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाह
वराणामेष वरस्तृतीय.॥

—कठोपनिषद् १–२०

५२. देवैरत्रापि विचिकित्सित पुरा, नहि सुविज्ञेय अणुरेष धर्मः।

—कठोपनिषद् १।२१

५३. मृत्युप्रोक्ता नचिकेतोऽथ लब्ध्वा,
विद्यामेता योगविधिं च कृत्स्नम्।

चरक के अनुसार अग्निवेश के प्रश्न के उत्तर मे पुनर्वसु ने आत्म-तत्त्व का निरूपण किया है।[५४]

छान्दोग्य उपनिषद् मे महर्षि नारद और सनत्कुमार का सवाद है। सनत्कुमार के पूछने पर नारद ने कहा—वेद, पुराण, इतिहास आदि सभी विद्याओ का अध्ययन करने पर भी आत्मस्वरूप न पहचानने से मैं शोक-ग्रस्त हूँ, अत आत्मज्ञान प्रदान कीजिये, और चिन्ताओ से मुक्त कीजिये।[५५]

बृहदारण्यक उपनिषद् मे याज्ञवल्क्य ऋषि से मैत्रेयी ने भी आत्मविद्या का ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा व्यक्त की।[५६]

उपनिषद् के ऋषियो ने कहा है—आत्मा ही दर्शनीय है, श्रवणीय है, मननीय है और ध्यान किये जाने योग्य है।[५७] मनुस्मृति के रचियता आचार्य मनु कहते हैं—'सब ज्ञानो मे आत्म-ज्ञान ही श्रेष्ठ है। सभी विद्याओ मे वही परा विद्या है, जिससे मानव को अमृत (मोक्ष) प्राप्त होता है।[५८]

ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद् विमृत्यु-
रन्योऽप्येव यो विदध्यात्ममेव ॥

कठोपनिषद् ६।१८

५४ इत्यग्निवेशस्य वच श्रुत्वा मतिमता वर'।
सर्वं यथावत् प्रोवाच प्रशान्तात्मा पुनर्वसु ॥

— चरक सहिता, शरीर स्थान, अ० १, श्लो० १५

५५ छान्दोग्योपनिषद्, प्रपाठक ७ खण्ड १

५६ येनाह नामृता स्या किं तेन कुर्याम् ?
तदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि ॥

—बृहदारण्योपनिषद्

५७ आत्मा वारे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य ।

—बृहदारण्योपनिषद् २।४।५

५८. सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञान पर स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्य सर्वविद्याना प्राप्यते ह्यमृत तत. ॥

—मनुस्मृति अ० १२

आत्मा शरीर से विलक्षण है।[५९] वह वाणी द्वारा अगम्य है।[६०] न वह स्थूल है, न ह्रस्व है, न विराट् है, न अणु है, न अरुण है, न द्रव है, न छाया है, न अन्धकार है, न हवा है, न आकाश है, न सग है, न रस है, न गध है, न नेत्र है, न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, उसमे न अन्तर है, न बाहर है।[६१]

उपनिषदो मे आत्मा के परिमाण की विभिन्न कल्पनाएँ मिलती है।

छान्दोग्योपनिषद् मे बताया है—"यह मेरी आत्मा अन्तर्हृदय मे रहती है। यह चावल से, जौ से, सरसो से, श्यामाक (साँवा) नामक धान या उसके चावल से भी लघु है।"[६२]

बृहदारण्यक मे कहा है—"यह पुरुष रूपी आत्मा मनोमय भास्वान् तथा सत्य रूपी है और उस अन्तर्हृदय मे ऐसी रहती है जैसे चावल या जौ का दाना हो।"[६३]

कठोपनिषद् मे कहा है—"आत्मा अंगूठे जितनी बडी है। अंगूठे जितना वह पुरुष आत्मा के मध्य मे रहता है।"[६४]

---

५९ न हन्यते हन्यमाने शरीरे....
—कठोपनिषद् १-२।१५।१८

६० यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।
—तैत्तिरीय उपनिषद् २।४

६१. अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाश-मसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्र-मनन्तरमबाह्यम्....।
—बृहदारण्योपनिषद् ३।८।८

६२. एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा
सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा॥
—छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।३

६३ मनोमयोऽयं पुरुषो भा सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा।
— बृहदारण्यक उप० ५।६।१

६४. अंगुष्ठमात्र पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
—कठोपनिषद् २।४।१२

कौषीतकी उपनिषद् मे कहा है—यह आत्मा शरीर-व्यापी है।[६५]

तैत्तिरीय उपनिषद् ने प्रतिपादित किया है—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय—ये सभी आत्माएँ शरीर-प्रमाण है।[६६]

मुण्डकोपनिषद् आदि मे आत्मा को व्यापक माना गया है।[६७] "हृदय कमल के भीतर यह मेरा आत्मा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक अथवा इन सब लोको की अपेक्षा बड़ा है।"[६८]

गीता के अनुसार—आत्मा को शस्त्र छेद नही सकते, अग्नि जला नही सकती, पानी गीला नही कर सकता और हवा सुखा नही सकती है।[६९] जैसे मानव जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को उतारकर नवीन वस्त्रो को धारण करता है, वैसे ही यह आत्मा भी जीर्ण शरीर का परित्याग कर नवीन शरीर को धारण करता है।[७०]

---

६५ एष प्रज्ञात्मा इद शरीरमनुप्रविष्ट ।

—कौषीतकी उपनिषद् ३५।४।२०

६६. तैत्तिरीय उपनिषद् १।२

६७. सर्वंगतम् ।

—मुण्डकोपनिषद् १।१।६

(ख) वैशेपिक दर्शन ७।१।२२

(ग) न्यायमजरी पृ० ४६८

(घ) प्रकरण प० पृ० १५८

(ङ) ईशावास्यमिद सर्वं, यत् किञ्च जगत्यां जगत् ।

—ईशावास्य उप०

६८ एप म आत्मान्तर् हृदये ज्यायान् पृथिव्या, ज्यायानन्तरिक्षा ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य ।

—छान्दोग्य उप० ३।१४।३

६९ नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैन दहति पावक ।
न चैन क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुत ॥

गीता, अध्याय २ । २३

७०. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

वैदिक सस्कृति मे ही नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, मीमासक और योग इन दर्शनो का समावेश होता है। ये सभी दर्शन आत्मा को स्वीकार करते है और आत्मा, मोक्ष आदि की स्वतन्त्र परिभाषाएँ प्रस्तुत करते है।

नैयायिक व वैशेषिक दर्शन का मन्तव्य है कि आत्मा एकान्त नित्य और सर्वव्यापी है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दु ख आदि के रूप मे जो परिवर्तन परिलक्षित होता है, वह आत्मा के गुणो मे है, स्वयं आत्मा मे नही। आत्मा के गुण आत्मा से भिन्न है, इनसे हम आत्मा का अस्तित्व जानते है।

साख्य दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है। उसके मतानुसार आत्मा सदा-सर्वदा एकरूप रहता है। उसमे परिवर्तन नही होता। संसार और मोक्ष भी आत्मा के नही, प्रत्युत प्रकृति के है।[७१] सुख-दु ख और ज्ञान भी प्रकृति के धर्म हैं, आत्मा के नही।[७२] आत्मा तो स्थायी, अनादि, अनन्त, अविकारी नित्य चित्स्वरूप और निष्क्रिय है।[७३] सांख्य दृष्टि से आत्मा कर्ता नही, किन्तु फल का भोक्ता है।[७४] कर्तृत्व प्रकृति मे है।[७५]

मीमांसक दर्शन के अनुसार आत्मा एक है, किन्तु देहादि की

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि सयाति नवानि देही ।।

—गीता २।२२

७१. साख्यकारिका ६२

७२ साख्यकारिका ११

७३. अमूर्तश्चेतनो भोगी, नित्य सर्वगतोऽक्रिय ।
अकर्ता निर्गुण सूक्ष्म आत्मा कपिलदर्शने ।।

—षड्दर्शनसमुच्चय

७४. साख्यकारिका १७

७५ प्रकृतेः क्रियमाणानि, गुणै. कर्माणि सर्वश. ।
अहकारविमूढात्मा, कर्ताऽहमिति मन्यते ।

—गीता ३।२७

विविधता के कारण वह अनेक प्रतीत होता है।"[७६] मीमासक कुमारिल ने आत्मा को नित्यानित्य माना है।[७७]

इस प्रकार हम देखते हैं, वैदिक दार्शनिको ने भी आत्मा के सम्बन्ध मे गहन चिन्तन किया है, किन्तु जैन-दर्शन जितना गंभीर चिन्तन वे नही कर पाये है। अनेकान्त दृष्टि से जैन दर्शन ने आत्मा का सर्वाङ्ग विवेचन किया है। वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

उपर्युक्त पक्तियो मे जैन, बौद्ध, और वैदिक दर्शन-मान्य आत्मा की एक हल्कीसी झांकी प्रस्तुत की गई है। आधुनिक वैज्ञानिक भी आत्मा के मौलिक अस्तित्व को स्वीकार करने लगे हैं। प्रोफेसर अलबर्ट आईस्टीन ने, जो पाश्चात्य देशो में ससार के प्रतिभासम्पन्न विद्वान माने गये है, लिखा है—"मैं जानता हूँ कि सारी प्रकृति में चेतना काम कर रही है।" इनके अतिरिक्त अन्य अनेक मूर्धन्य वैज्ञानिको के विचार भी मननीय हैं, पर स्थानाभाव के कारण उन्हे यहाँ उद्धृत करना सम्भव नही है।

---

७६. एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थित ।

७७ तत्त्वसग्रह का० २२३-७ ।

तीन | कर्मवाद-पर्यवेक्षण

भारतवर्ष दर्शनो की जन्मस्थली है, क्रीडाभूमि है। यहाँ की पुण्य-भूमि पर आदिकाल से ही आध्यात्मिक चिन्तन की, दर्शन की विचारधारा बहती चली आ रही है। न्याय, साख्य, वेदान्त, वैशेषिक, मीमासक, बौद्ध और जैन प्रभृति अनेक दर्शनो ने यहाँ जन्म ग्रहण किया, वे खूब फले और फूले। उनकी विचारधाराएँ हिमालय की चोटी से भी अधिक ऊँची, समुद्र से भी अधिक गहरी और आकाश से भी अधिक विस्तृत हैं।

भारतीय दर्शन जीवन-दर्शन है। केवल कमनीय कल्पना के अनन्त गगन मे विहरण करने की अपेक्षा यहाँ के मनीषी दार्शनिको ने जीवन के गम्भीर व गहन प्रश्नों पर चिन्तन, मनन, विमर्श करना अधिक उपयुक्त समझा। एतदर्थ यहाँ आत्मा, परमात्मा, लोक, कर्म आदि तत्त्वो पर गहराई से चिन्तन, मनन व विवेचन किया गया है। उन्होने अपनी तपश्चर्या एव सूक्ष्म कुशाग्र बुद्धि के सहारे तत्त्व का जो विश्लेषण किया है वह भारतीय सभ्यता व धर्म का मेरुदण्ड है। इस विराट् विश्व में भारत के मुख को उज्ज्वल-समुज्ज्वल रखने मे, तथा मस्तिष्क को उन्नत रखने मे ब्रह्मवेत्ताओ की यह आध्यात्मिक सम्पदा सर्वथा व सर्वदा कारण रही है। मानसिक पराधीनता के पङ्क मे निमग्न आधुनिक भारतीय पाश्चात्य सभ्यता के चाकचिक्य के समक्ष इस अनुपम विचार-राशि की भले ही अवहेलना करें किन्तु उन्हे यह स्मरण रखना चाहिए कि भारत अतिप्राचीन काल से गौरवशाली देश रहा है तो अपने दार्शनिक चिन्तन के कारण ही। वस्तुत. तत्त्व-ज्ञान से ही भारतीय सस्कृति व सभ्यता की प्रतिष्ठा है।

दार्शनिक वादो की दुनिया मे कर्मवाद का अपना एक विशिष्ट स्थान है। कर्मवाद के मर्म को समझे विना भारतीय दर्शन विशेषत आत्मवाद का यथार्थ परिज्ञान नही हो सकता।

डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी के मन्तव्यानुसार "कर्मफल का सिद्धान्त भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त खोजने का प्रयत्न अन्यान्य देशो के मनीषियो मे भी पाया जा सकता है, परन्तु इस कर्मफल का सिद्धान्त और कही भी नही मिलता।"[१]

सुप्रसिद्ध प्राच्य-विद्याविशारद कीथ ने सन् १९०९ की रायल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका मे एक बहुत ही विचार पूर्ण लेख लिखा था। उसमे वे लिखते हैं—"भारतीयो के कर्म बन्ध का सिद्धान्त निश्चय ही अद्वितीय है। ससार की समस्त जातियो से उन्हे यह सिद्धान्त अलग कर देता है। जो कोई भी भारतीय धर्म और साहित्य को जानना चाहता है, वह यह उक्त सिद्धान्त को जाने बिना अग्रसर नही हो सकता।"[२]

कर्म शब्द के पर्यायवाची

आत्मतत्त्व के सम्बन्ध मे विभिन्न दार्शनिको की विभिन्न धारणाएँ होने से कर्म के स्वरूप-विवेचन मे भी विभिन्नता होना स्वाभाविक है। तथापि यह स्पष्ट है—कि सभी आस्तिक दर्शनो ने पुनर्जन्म की ससिद्धि के लिए किसी न किसी रूप मे कर्म-सिद्धान्त को स्वीकार किया है। सभी दर्शनो के शब्दो मे अन्तर होने पर भी उसके आधार भूत भाव मे प्राय समानता है।

जैन दार्शनिको ने जिसे कर्म कहा है,[३] उसे वेदान्त दर्शन ने अविद्या,

---

१ अशोक के फूल-भारतवर्ष की सास्कृतिक समस्या पृ० ६७,

२. अशोक के फूल, पृ० ६७

३. उत्तराध्ययन अ० ३३।१
(ख) सूत्रकृताङ्ग १।२।१।४
(ग) आचाराग १।२।२।५

प्रकृति तथा माया कहा है।[४] बौद्ध दर्शन ने उसे वासना और अविज्ञप्ति कहा है।[५] सांख्य व योग दर्शन उसे आशय और क्लेश कहते हैं।[६] न्याय और वैशेषिक दर्शन ने उसे धर्माधर्म, सस्कार और अदृष्ट कहा है।[७] मीमासकों ने उसे अपूर्व कहा है।[८] ईसा मोहम्मद और मूसा ने उसे शैतान कहा है।[९] कर्म शब्द के ही ये पर्यायवाची शब्द है, जिन्हे दार्शनिको ने अपने-अपने ग्रन्थो मे उट्टङ्कित किया है।

कर्म का स्वरूप :

कर्म का स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न विचारको ने विभिन्न दृष्टि से दिया है।

(घ) दशाश्रुतस्कन्ध, ६
(ङ) कर्मग्रन्थ प्रथम गा० १

४. ब्रह्मसूत्र शाकर भाष्य २।१।१४

५ अभिधर्म कोष, चतुर्थ परिच्छेद।

६. योगदर्शन भाष्य १-५। २-३।२-१२।२-१३
(ख) योगदर्शन तत्त्व वैशारदी।
(ग) योगदर्शन भास्वती टीका।
(घ) साख्यकारिका।
(ङ) सांख्य तत्त्व कौमुदी।

७. न्याय भाष्य १।१।२
(ख) न्यायसूत्र ४।१।३-९
(ग) न्यायसूत्र १।१।१७
(घ) न्याय मजरी पृ० ४७१।५००
(ङ) एव च क्षणभंगित्वात्, सस्कारद्वारिकः स्थित.।
स कर्मजन्यसस्कारो धर्माधर्मगिरोच्यते ॥
—न्यायमजरी पृ० ४७२

८. मीमासा-सूत्र—शावर भाष्य २।१।५
(ख) तन्त्रवार्तिक २।१।५
(ग) शास्त्रदीपिका पृ० ८०

९ बाइबिल
कुरान शरीफ

न्याय दर्शन अदृष्ट (कर्म) को आत्मा का गुण मानता है और उसका फल ईश्वर के माध्यम से आत्मा को प्राप्त होता है।[10] साख्य दर्शन कर्म को प्रकृति का विकार मानता है।[11] अच्छी-बुरी प्रवृत्तियो का प्रकृति पर सस्कार पडता है, उस प्रकृतिगत सस्कार से ही कर्मों के फल प्राप्त होते हैं। बौद्ध दर्शन चित्तगत वासना को ही कर्म मानता है।[12] वासना ही कार्य कारण भाव के रूप मे सुख-दु.ख का हेतु बनती है। मीमासक यज्ञ आदि क्रियाओ को ही कर्म कहता है।[13] पौराणिक मान्यतानुसार व्रत नियमादि धार्मिक अनुष्ठान कर्म हैं। वैयाकरणो की दृष्टि से कर्ता जिसे अपनी क्रिया के द्वारा प्राप्त करना चाहता है वह कर्म है। गीता[14] उपनिषद् आदि ने अच्छे-बुरे कार्यों को कर्म कहा है। जैनदर्शन के अनुसार कर्म केवल सस्कार मात्र नही है, किन्तु एक स्वतत्र तत्त्व है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग से जीव के द्वारा जो किया जाता है वह कर्म है।[15] अर्थात् आत्मा की राग द्वेषात्मक क्रिया से आकाश प्रदेशो मे स्थित अनन्तानन्त कर्म योग्य सूक्ष्म पुद्गल चुम्बक की तरह आकृष्ट होकर आत्म प्रदेशो के साथ बद्ध हो जाते हैं, वे कर्म हैं। जैसे गर्म लोहपिण्ड पानी मे रखने

---

१०. ईश्वर कारणं पुरुषकर्म फलस्य दर्शनात्।

—न्यायसूत्र ४।१

११ अन्त.करणधर्मत्व धर्मादीनाम्।

—सांख्यसूत्र ५।२५

१२. अभिधर्म कोष, चतुर्थ परिच्छेद

१३. तन्त्रवार्तिक पृ० ३९५-६

१४. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

—भगवद्गीता अ० ४ श्लो० २७

१५. कीरइ जीएण हेउहिं, जेण त्तो भण्णए कम्म।

—कर्मग्रन्थ, प्रथम, गा० १ आचार्य देवचन्द्र,

(ख) विसय कसायहि रगियहँ, जे अणुया लगति।
जीव-पएसहँ मोहियहँ, ते जिण कम्म भणति॥

—परमात्मप्रकाश १।६२

पर चारो ओर के पानी को खीचता है, वैसे ही आत्मा भी राग द्वेष के वशीभूत होकर कार्मणजातीय पुद्गलो को आकर्षित करता है

कर्म के भेद

कर्म के मुख्यत. दो भेद है, द्रव्य कर्म और भाव कर्म। सासारिक जीव का[16] "रागद्वेषादिमय वैभाविक परिणाम भाव कर्म हैं, और उन वैभाविक परिणामो से आत्मा मे जो 'कार्मण वर्गणा' के पुद्गल सर्वात्मना चिपकते है, वे द्रव्य कर्म हैं।" द्रव्य कर्म और भाव कर्म मे निमित्त-नैमित्तिक रूप द्विमुख कार्य-कारण भाव सम्वन्ध है। द्रव्य कर्म कार्य है और भाव कर्म कारण है। प्रस्तुत कार्य कारण भाव मुर्गी और अण्डे के कार्य कारण भाव सदृश है। मुर्गी से अण्डा उत्पन्न होता है, अत मुर्गी कारण है और अण्डा कार्य है। मगर अण्डे से मुर्गी उत्पन्न होती है, अतएव अण्डा कारण और मुर्गी कार्य है। इस प्रकार दोनो कार्य और दोनो कारण हैं। यदि यह जिज्ञासा व्यक्त की जाय कि पहले मुर्गी थी या अण्डा ? तो इसका समाधान नही दिया जा सकता, क्योकि अण्डा मुर्गी से होता है और मुर्गी भी अण्डे से समुत्पन्न होती है। अत. दोनो मे कार्य कारण भाव स्पष्ट है। उनमे पौर्वापर्य भाव नही बतलाया जा सकता। संतति की दृष्टि से उनका पारस्परिक कार्य कारण भाव अनादि है। वैसे ही द्रव्य और भाव कर्म का कार्य-कारण भाव सम्बन्ध संतति की अपेक्षा से अनादि हैं। दोनो एक दूसरे के उत्पन्न होने मे निमित्त है।

जैसे मिट्टी का एक पिण्ड घडे आदि के रूप मे परिणत होने का उपादान कारण है, किन्तु कुम्भकाररूपी निमित्त के अभाव मे वह घट नही बनता, वैसे ही कार्मण वर्गणा के पुद्गलो मे कर्म रूप मे परिणत होने की शक्ति है, एतदर्थ पुद्गल द्रव्य कर्म का उपादान कारण है, पर जीव मे भाव कर्म की सत्ता का अभाव हो तो पुद्गल द्रव्य कर्म मे परिणत नही हो सकता। अत. भावकर्म द्रव्य कर्म का

---

१६ पोग्गल-पिंडो दव्व तस्सन्ति भावकम्म तु।

—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, आ० नेमिचन्द्र

निमित्त कारण है और द्रव्य कर्म भी भाव कर्म का निमित्त है। अत. द्रव्य और भाव कर्म का कार्य कारण भाव उपादानोपादेय रूप न होकर निमित्त नैमित्तिक रूप है। अन्य दर्शनकारो ने भी द्रव्य और भाव कर्म को विविध नामो से स्वीकार किया है।[१७]

कर्म का अस्तित्व

इस विराट् विश्व मे यत्र-तत्र-सर्वत्र विषमता, विचित्रता और विविधता दृष्टिगोचर होती है। सब जीव स्वभावत समान होने पर भी उनमे मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतग आदि के रूप मे जो महान् अन्तर दिखाई पड़ता है, इसका क्या कारण है ? केवल मानव जगत् को ही लें, तो भी कोई निर्धन है, कोई धनी है। कोई स्वस्थ है, कोई रुग्ण है। कोई अज्ञ है, कोई विज्ञ है। कोई निर्बल है, कोई सबल है। कोई सुन्दर है कोई कुरूप है। कोई सुखी है, कोई दु खी है। कोई गगनचुम्बी अट्टालिकाओ मे रहता है तो कोई टूटी-फूटी झोपड़ियो मे। कोई गुलावजामुन और रसगुल्ले उडा रहा है तो कोई भूख से छटपटा रहा है। कोई वहुमूल्य और चमकदार वस्त्रो से अलकृत है तो कोई फटे-पुराने चीथडो से वेष्टित है। यहाँ तक कि एक माता की कोख से उत्पन्न हुए पुत्रो मे भी दिन-रात का अन्तर देखा जाता है, एक राजा है, दूसरा रक है। इस भेद और विषमता का मूल कारण क्या है ? यह एक ज्वलत प्रश्न है।

भारत के मननशील मेधावी मनीषियो ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—विषमता और विविधता का मूल कर्म है।[१८] कर्म से ही विविधता और विषमता उत्पन्न होती है।[१९] जैन दर्शन की तरह बौद्ध

---

१७ देखिए—आत्ममीमासा, प० दलसुख मालवणिया।

१८ कम्मओ ण भते, जीवे, नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमई।
कम्मओ ण जये ? णो अकम्मओ विभत्तिभाव परिणमई ॥
—भगवती १२।५

१९. कम्मुणा उवाही जायइ।
—आचारांग ३।१

दर्शन[२०], न्याय दर्शन[२१] वेदान्तदर्शन[२२] प्रभृति भी कर्म को ही जीव की विविध अवस्थाओ का कारण मानते हैं। यह एक परखा हुआ सिद्धान्त है कि जैसा बीज होगा वैसा ही वृक्ष होगा।[२३]

सौटची स्वर्ण मे कोई भेद नही होता, किन्तु विजातीय तत्त्व के संमिश्रण के कारण उसमे भेद होता है। वैसे ही निश्चय दृष्टि से

(ख) क्ष्माभृद्रङ्कयोर्मनीषिजडयो सद्रूपनीरूपयो,
श्रीमद्दुर्गतयोर्वलावलवतोर्नीरोगरोगार्तयो ।
सौभाग्यासुभगत्व-सगम-जुषोस्तुल्येऽपि नृत्वेऽन्तर,
यत्तत्कर्मनिबन्धन तदपि नो जीव विना युक्तिमत् ॥

—कर्मग्रन्थ प्रथम टीका—देवेन्द्र सूरि

(ग) जो तुल्लसाहणाण, फले विसेसो ण सो विणा हेउं।
कज्जत्तणओ गोयम ! घडोव्व हेऊ य सो कम्म।

—विशेषावश्यक भाष्य, जिनभद्रगणी

२० भासित पेतं महाराज, भगवता—कम्मस्सका माणवसत्ता, कम्मदायादा, कम्मयोनी, कम्मबन्धू, कम्मपटिसरणा, कम्म सते विभजति, यदिद हीनपणीततायाति ॥

—मिलिन्द प्रश्न ३।२

(ख) कर्मज लोकवैचित्र्य।

—अभिधर्म कोष ४।१

२१ जगतो यच्च वैचित्र्य, सुखदु खादिभेदत ।
कृषिसेवादिसाम्येऽपि विलक्षणफलोदय. ॥
अकस्मान्निधिलाभस्य विद्युत्पातश्च कस्यचित् ।
क्वचित्फलमयत्नेऽपि यत्नेऽप्यफलता क्वचित् ॥
तदेतद् दुर्घट दृष्टात्कारणाद् व्यभिचारिण. ।
तेनादृष्टमुपेतव्यमस्य किञ्चन कारणम् ॥

—न्यायमजरी—जयन्तभट्ट

२२. ब्रह्मसूत्र—शाकर भाष्य २।१।१४

२३. करम प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा ॥

—रामचरितमानस

आत्माएँ एक है, किन्तु जो भेद और विषमता है, वह कर्म के कारण से है।[२४]

आत्मा पहले या कर्म :

आत्मा पहले है या कर्म पहले है ? दोनो मे पहले कौन है और पीछे कौन है ? यह एक प्रश्न है।

उत्तर है—आत्मा और कर्म दोनो अनादि है। कर्मसतति का आत्मा के साथ अनादि काल से सम्बन्ध है। प्रतिपल-प्रतिक्षण जीव नूतन कर्म बाधता रहता है। ऐसा कोई भी क्षण नही, जिस समय सासारिक जीव कर्म नही बाँधता हो। इस दृष्टि से आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध सादि भी कहा जा सकता है, पर कर्म-सन्तति की अपेक्षा आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि है।[२५]

अनादि का अन्त कैसे :

प्रश्न है—जब आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि है तब उसका अन्त कैसे हो सकता है ? क्योकि जो अनादि होता है उसका नाश नही होता।

---

२४ कामादिप्रभवश्चित्र कर्मबन्धानुरूपत ।

—आप्त मीमांसा—आचार्य समन्तभद्र

२५. जो खलु ससारत्था जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामोदो कम्म कम्मादो होदि गदिसुगदी ॥
गदिमधिगदस्स देहो, देहादो इन्दियाणि जायन्ते ।
तेहि दु विसयग्गहण तत्तो रागो व दोसो वा ॥
जायदि जीवस्सेव भावो ससारचक्कवालम्मि,
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥

—पंचास्तिकाय—आचार्य कुन्दकुन्द

जीव हँ कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण ।
कम्मे जीउ वि जणिउ णवि दोहिं वि आइ ण जेण ॥
एहु ववहारें जीवडउ हेउ लहे विणु कम्मु ।
वहुविह-भावें परिणवइ तेण जि धम्मु अहम्मु ॥

—परमात्म प्रकाश १।५९।६०

उत्तर है—अनादि का अन्त नही होता, यह सामुदायिक नियम है, जो जाति से सम्बन्ध रखता है। व्यक्ति विशेष पर यह नियम लागू नही भी होता। स्वर्ण और मिट्टी का, घृत और दुग्ध का सम्बन्ध अनादि है, तथापि वे पृथक्-पृथक् होते हैं। वैसे ही आत्मा और कर्म के अनादि सम्बन्ध का अन्त होता है।[२६] यह भी स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्ति रूप से कोई भी कर्म अनादि नही है। किसी एक कर्मविशेष का अनादि काल से आत्मा के साथ सम्बन्ध नही है। पूर्वबद्ध कर्म स्थिति पूर्ण होने पर आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। नवीन कर्म का वन्धन होता रहता है। इस प्रकार प्रवाह रूप से आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादि काल से है,[२७] न कि व्यक्तिश.। अत अनादि कालीन कर्मों का अन्त होता है, तप और सयम के द्वारा नये कर्मों का प्रवाह रुकता है, सचित कर्म नष्ट होते हैं और आत्मा मुक्त बन जाता है।[२८]

आत्मा बलवान् या कर्म :

आत्मा और कर्म इन दोनो मे अधिक शक्तिसम्पन्न कौन है? क्या आत्मा वलवान् है या कर्म वलवान है?

समाधान है—आत्मा भी बलवान् है और कर्म भी बलवान है। आत्मा मे भी अनन्त शक्ति है और कर्म मे भी अनन्त शक्ति है। कभी जीव, काल आदि लब्धियो की अनुकूलता होने पर कर्मों को पछाड़

---

२६ द्वयोरप्यनादिसम्बन्ध., कनकोपल-सन्निभ।

२७ यथाऽनादि स जीवात्मा, यथाऽनादिश्च पुद्गल
द्वयोर्वन्धोऽप्यनादि स्यात् सम्बन्धो जीव-कर्मणो।
—पंचाध्यायी २।४५, पं० राजमल्ल

(ख) अस्त्यात्माऽनादितो वद्ध, कर्मभि. कार्मणात्मकैः।
—लोकप्रकाश ४२४

(ग) आदिरहितो जीवकर्मयोग इति पक्ष.।
—स्थानाङ्ग १।४।६ टीका

२८. खवित्ता पुव्वकम्माइ, सजमेण तवेण य।
सव्व-दुक्ख-पहीणट्ठा, पक्कमति महेसिणो॥
—उत्तराध्ययन २५।४५

देता है, और कभी कर्मों की बहुलता होने पर जीव उनसे दब जाता है।[२९]

बहिर्दृष्टि से कर्म बलवान् प्रतीत होते है, पर अन्तर्दृष्टि से आत्मा ही बलवान् है, क्योकि कर्म का कर्ता आत्मा है, वह मकडी की तरह कर्मों का जाल बिछाकर उसमे उलझता है। यदि वह चाहे तो कर्मों को काट भी सकता है। कर्म चाहे कितने भी अधिक शक्ति शाली हो, पर आत्मा उससे भी अधिक शक्तिसम्पन्न है।

लौकिक दृष्टि से पत्थर कठोर है और पानी मुलायम है, किन्तु मुलायम पानी पत्थर के भी टुकडे-टुकडे कर देता है। कठोर चट्टानो मे भी छेद कर देता है। वैसे ही आत्मा की शक्ति कर्म से अधिक है। वीर हनुमान को जब तक स्व स्वरूप का परिज्ञान नही हुआ तब तक वह नाग-पाश मे बँधा रहा, रावण की ठोकरें खाता रहा, अपमान के जहरीले घूँट पीता रहा, किन्तु ज्यो ही उसे स्वरूप का ज्ञान हुआ, त्यो ही नाग-पाश को तोड़कर मुक्त हो गया। आत्मा को भी जब तक अपनी विराट् चेतनाशक्ति का ज्ञान नही होता तब तक वह भी कर्मों को अपने से अधिक शक्तिमान् समझकर उनसे दबा रहता है, ज्ञान होने पर उनसे मुक्त हो जाता है।

कर्म और उसका फल :

सांसारिक जीव जो विविध प्रकार के कर्मों का बन्धन करते है, उन्हे विपाक की दृष्टि से भारतीय चिन्तको ने दो भागो मे विभक्त किया है, शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप अथवा कुशल, और अकुशल। इन दो भेदो का उल्लेख, जैन दर्शन,[३०] बौद्ध दर्शन[३१], साख्य

---

२९. कत्थवि बलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुन्ति बलियाइ।
जीवस्स य कम्मस्स य, पुव्वविरुद्धाइ वैराइ।
—गणधरवाद २-२५

३०. शुभ पुण्यस्य,
अशुभ : पापस्य
—तत्त्वार्थ सूत्र ६।३-४

३१. विशुद्धिमग्ग १७।८८

दर्शन[३२], योग दर्शन[३३], न्याय दर्शन, वैशेषिक दर्शन[३४] और उपनिषद्[३५] आदि मे हुआ है। जिस कर्म के फल को प्राणी अनुकूल अनुभव करता है वह पुण्य है और प्रतिकूल अनुभव करता है वह पाप है। पुण्य के फल की सभी इच्छा करते हैं। किन्तु पाप के फल की कोई इच्छा नही करता। इच्छा न करने पर भी उसके विपाक से बचा नही जा सकता।

जीव ने जो कर्म बाधा है उसे इस जन्म मे या आगामी जन्मो मे भोगना ही पडता है।[३६] कृत-कर्मों का फल भोगे बिना आत्मा का छुटकारा नही हो सकता।[३७]

महात्मा बुद्ध कहते हैं "चाहे अन्तरिक्ष मे चले जाओ, समुद्र मे घुस जाओ, गिरि कदराओ मे छिप जाओ। किन्तु ऐसा कोई प्रदेश नही, जहाँ तुम्हे पाप कर्मों का फल भोगना न पडे।[३८]

वेदपंथी कवि सिहलन मिश्र भी यही कहते है कि कही भी चले जाओ, परन्तु जन्मान्तर मे जो शुभाशुभ कर्म किये हैं, उनके

---

३२. साख्यकारिका ४४

३३. योगसूत्र २।१४

(ख) योगभाष्य २।१२

३४ न्याय मजरी पृ० ४७२।

(ख) प्रशस्तपाद पृ० ६३७।६४३

३५. वृहदारण्यक ३।२।१३

३६ परलोककडा कम्मा इहलोए वेइज्जति,
इहलोककडा कम्मा इहलोए वेइज्जति।

—भगवती सूत्र

(ख) स्थानाङ्ग सूत्र ७७

३७. कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

—उत्तराध्ययन ४।३

३८ न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे,
न पव्वतान विवर पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेशो,
यत्थट्ठितो मुञ्चेऽय्य पावकम्मा॥

—धम्मपद ६।१२

फल तो छाया के समान साथ ही साथ रहेगे। वे तुम्हे कदापि नही छोडे गे।[39]

आचार्य अमितगति का कथन है—"अपने पूर्वकृत कर्मो का ही शुभाशुभ फल हम भोगते हैं, यदि अन्य द्वारा दिया फल भोगे तो हमारे स्वकृत कर्म निरर्थक हो जायेंगे।"[40]

अध्यात्मशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित आचार्य कुन्दकुन्द का भी यही स्वर है—"जीव और कर्मपुद्गल परस्पर गाढ रूप मे मिल जाते हैं, समय पर वे पृथक्-पृथक् भी हो जाते हैं। जब तक जीव और कर्म पुद्गल परस्पर मिले रहते है तब तक कर्म सुख-दु ख देता है और जीव को वह भोगना पडता है।[41]

महात्मा बुद्ध ने एक बार पैर मे कांटा विंध जाने पर अपने शिष्यों से कहा—"भिक्षुओ! इस जन्म से एकानवे जन्म पूर्व मेरी शक्ति (शस्त्र-

---

३९. आकाशमुत्पततु गच्छतु वा दिगन्त-
मम्भोनिधिं विशतु तिष्ठतु वा यथेष्टम्।
जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकृन्नराणा,
छायेव न त्यजति कर्म फलानुबन्धि॥

—शान्तिशतकम् ८२

४० स्वय कृत कर्म्म यदात्मना पुरा,
फल तदीय लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट,
स्वय कृतं कर्म निरर्थक तदा॥

—द्वात्रिंशिका, ३०

४१ जीवा पुग्गलकाया
अण्णोण्णागाढगहणपडिवद्धा।
काले विजुज्जमाणा,
सुहदुक्ख दिंति भुजन्ति॥

—पञ्चास्तिकाय ६७

विशेष) से एक पुरुष की हत्या हुई थी। उसी कर्म के कारण मेरा पैर कांटे से विंध गया है।"[४२]

भगवान् महावीर के जीवन प्रसगो से भी यह बात स्पष्ट है कि उन्हे साधनाकाल मे जो रोमाचकारी कष्ट सहने पडे थे, उनका मूल कारण पूर्वकृत कर्म ही थे।[४३]

आत्मा स्वतन्त्र है या कर्म के अधीन ?

पहले वताया जा चुका है कि जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही उसका फल उसे प्राप्त होता है। शुभकर्म का फल शुभ होता है और अशुभकर्म का फल अशुभ होता है।[४४]

कर्म की मुख्यत दो अवस्थाएँ है—वध (ग्रहण) और उदय (फल)। कर्म को वाधने मे जीव स्वतन्त्र है, किन्तु उसके फल को भोगने मे वह स्वतन्त्र नही है, कर्म के अधीन है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति वृक्ष पर चढता है वह चढने मे स्वतन्त्र है, अपनी इच्छानुसार चढ सकता है किन्तु असावधानीवश गिर जाय तो वह गिरने मे स्वतन्त्र नही है।[४५] वह इच्छा से गिरना नही चाहता तथापि गिर जाता है, अत गिरने मे परतन्त्र है। इसी प्रकार भग पीने मे स्वतन्त्र है, किन्तु उसका परिणाम भोगने मे परतन्त्र है। उसकी इच्छा न होते हुए भी भंग अपना चमत्कार दिखलाएगी ही। उसकी इच्छा का फिर कोई मूल्य नही है।

---

४२ इत एकनवते कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हत ।
तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोस्मि भिक्षव ॥

—षड्दर्शन समुच्चय, टीका

४३ देखिए लेखक का 'महावीर जीवनदर्शन ग्रन्थ'

४४. सुच्चिण्णा कम्मा सुच्चिण्णफला भवति,
दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णफला भवति ।

—दशाश्रुत स्कन्ध, ६

४५. कम्म चिणति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परवसा होन्ति ।
रुक्ख दुरुहइ सवसो, विगलस परवसो तत्तो ॥

—विशेषावश्यक, भाष्य १-१

उक्त कथन का यह अर्थ नही कि बद्ध कर्मों के विपाक मे आत्मा कुछ भी परिवर्त्तन नही कर सकता। जैसे भग के नशे की विरोधी वस्तु के सेवन से भग का नशा नही चढता या नाम मात्र को चढता है, उसी प्रकार प्रशस्त अध्यवसायो के द्वारा पूर्वबद्ध कर्म के विपाक को मन्द भी किया जा सकता है और नष्ट भी किया जा सकता है। उस अवस्था मे कर्म, प्रदेशो से उदित होकर ही निर्जीर्ण होजाते है। उसकी कालिक मर्यादा (स्थितिकाल) को कम करके शीघ्र उदय मे भी लाया जा सकता है। नियतकाल से पूर्व कर्मों को उदय मे ले आना 'उदीरणा' कहलाता है।

'पातजलयोग' भाष्य मे भी अदृष्ट-जन्य वेदनीय कर्म की तीन गतियाँ निरूपित की है। उनमे से एक गति यह है—"कई कर्म बिना फल दिये ही प्रायश्चित्त आदि के द्वारा नष्ट हो जाते है।" इसे जैन पारिभाषिक शब्दो मे प्रदेशोदय कहा है।

कर्म की पौद्गलिकता :

अन्य दर्शनकारो ने जहाँ कर्म को संस्कार और वासनारूप माना है, वहाँ जैनदर्शन उसे पौद्गलिक मानता है। कर्म आत्मा का गुण नही है, किन्तु वह आत्मगुणो का विघातक है। परतत्र बनाने वाला और दुखो का कारण है। यह तथ्य है, "जिस वस्तु का जो गुण है वह उसका विघातक नही होता। कर्म आत्मा का विघातक है अत. आत्मा का गुण नही हो सकता। कर्म पौद्गलिक न होता तो वह आत्मा की पराधीनता का कारण नही हो सकता था।

जैनदर्शन की दृष्टि से द्रव्य कर्म पौद्गलिक है। पुद्गल मूर्त ही होता है। उसमे रूप, रस, गध और स्पर्श—ये चार गुण होते हैं। जिसका कारण पौद्गलिक होता है उसका कार्य भी पौद्गलिक होता है। जैसे कपास भौतिक है, तो उससे बनने वाला वस्त्र भी भौतिक ही होगा। जैसे कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है वैसे ही कारण से भी कार्य का अनुमान किया जा सकता है। शरीर आदि कार्य

पौद्गलिक और मूर्त है, अतः उसका कारण कर्म भी पौद्गलिक और मूर्त ही होना चाहिए।[४६]

मूर्त का अमूर्त पर प्रभाव :

प्रश्न है—कर्म मूर्त है तो उसका प्रभाव अमूर्त आत्मा पर कैसे होता है ? उत्तर है—जैसे मदिरा और क्लोरोफार्म का प्रभाव अमूर्त चेतना आदि गुणो पर प्रत्यक्ष देखा जाता है, वैसे ही अमूर्त आत्मा पर मूर्त कर्म का प्र ाव पडता है।[४७]

उक्त प्रश्न का दूसरा समाधान यह है कि अनन्तकाल से आत्मा कर्म से सम्बद्ध होने के कारण स्वभावत अमूर्त होते हुए भी ससारी अवस्था मे मूर्त है।[४८] इस कारण भी वह कर्म से प्रभावित होता है।[४९] जो आत्मा कर्ममुक्त हैं, उन्हे कर्म का बन्धन नही होता, पूर्व कर्म से बधा हुआ जीव ही नए कर्मों का बधन करता है।[५०]

गौतम—भगवन् ! दु खी जीव दु ख से स्पृष्ट होता है या अदु खी दु:ख से स्पृष्ट होता है ?[५१]

---

४६ मुत्तो फासदि मुत्त, मुत्तो मुत्तेण वधमणुहवदि,
जीवो मुत्तिविरहिदो, गाहदि ते तेहिं उग्गहदि।
—पंचास्तिकाय १३४

४७. मुत्तेणामुत्तिमओ उवघाया-ऽणुग्गहा कह होज्जा ?
जह विण्णाणाईण मइरापाणो-सहाईहिं।
—विशेषावश्यक, भाष्य गा० १६३७

४८. अहवा नेगतोऽयं ससारी सव्वहा अमुत्तोत्ति।
जमणाइकम्मसतइपरिणामावन्नरूवो सो॥
—विशेषावश्यक, भाष्य गा० १६३८

४९. वण्ण रस पच गन्धा, दो फासा अट्ठ णिच्छिया जीवे।
णो सति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बधादो॥
—द्रव्यसग्रह

५० समिय दुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्ट अणुपरियट्टइ।
—आचारांग २।६।१०५

५१. दु खनिमित्तत्वाद् दु ख कर्म, तद्वान् जीवो दु खी।
—भगवती, टीका ७।१।२३६

महावीर—गौतम ! दु खी जीव दु ख से स्पृष्ट होता है, अदु खी दु ख से स्पृष्ट नही होता है। दु ख का स्पर्श, पर्यादान (ग्रहण), उदीरणा, वेदना, और निर्जरा दु खी जीव करता है, अदु खी नही।[५२]

गौतम—भगवन् ! कर्म कौन बाधता है—सयत, असंयत, अथवा सयतासयत ?

महावीर—असयत, सयतासयत और सयत ये सभी कर्म बांधते हैं।[५३]

तात्पर्य यह है कि जो सकर्म आत्मा है वे ही कर्म बाधती हैं, उन्ही पर कर्म का प्रभाव होता है।

कर्म बंध के कारण :

जीव के साथ कर्म का अनादि सम्बन्ध है किन्तु कर्म किन कारणो से बधते हैं, यह एक सहज जिज्ञासा है। गौतम ने प्रश्न किया—भगवन् ! जीव कर्म वन्ध कैसे करता है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से, दर्शनावरणीय कर्म का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शनमोह का उदय होता है। दर्शनमोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है और मिथ्यात्व के उदय से जीव आठ प्रकार के कर्मो को बांधता है।[५४]

स्थानाङ्ग[५५] समवायाग[५६] मे तथा उमास्वाति ने कर्मवध के

---

५२. भगवती ७।१।२६६

५३ भगवती ६।३

५४. भते ! जीवे अट्ठ कम्मपगडीओ वधति ?
गोयमा ! णाणावरणिज्जस्म कम्मस्स उदएण दरिसणावरणिज्ज कम्मं नियच्छति, दरिसणावरणिम्स कम्मस्स उदएण दसणमोहणिज्ज कम्म णिगच्छइ, दसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएण मिच्छत्त णिगच्छइ, मिच्छत्तेण उदिण्णेण एव खलु जीवे अट्ठकम्मपगडीओ वन्धइ।
प्रज्ञापना २३।१।२८६

५५ पच आसवदारा पण्णत्ता,—समवायाग, समवाय ५।

५६. स्थानाङ्ग ४१८।

पौद्गलिक और मूर्त है, अतः उसका कारण कर्म भी पौद्गलिक और मूर्त ही होना चाहिए।[४६]

मूर्त का अमूर्त पर प्रभाव :

प्रश्न है—कर्म मूर्त है तो उसका प्रभाव अमूर्त आत्मा पर कैसे होता है ? उत्तर है—जैसे मदिरा और क्लोरोफार्म का प्रभाव अमूर्त चेतना आदि गुणो पर प्रत्यक्ष देखा जाता है, वैसे ही अमूर्त आत्मा पर मूर्त कर्म का प्रभाव पडता है।[४७]

उक्त प्रश्न का दूसरा समाधान यह है कि अनन्तकाल से आत्मा कर्म से सम्वद्ध होने के कारण स्वभावत अमूर्त होते हुए भी ससारी अवस्था मे मूर्त है।[४८] इस कारण भी वह कर्म से प्रभावित होता है।[४९] जो आत्मा कर्ममुक्त है, उन्हे कर्म का बन्धन नही होता, पूर्व कर्म से बधा हुआ जीव ही नए कर्मों का वंधन करता है।[५०]

गौतम--भगवन् ! दु खी जीव दु ख से स्पृष्ट होता है या अदु.खी दु ख से स्पृष्ट होता है ?[५१]

---

४६. मुत्तो फासदि मुत्त, मुत्तो मुत्तेण वधमणुहवदि,
जीवो मुत्तिविरहिदो, गाहदि ते तेहि उग्गहदि।
—पंचास्तिकाय १३४

४७. मुत्तेणामुत्तिमओ उवघाया-ऽणुग्गहा कह होज्जा ?
जह विण्णाणाईए मइरापाणो-महाईहि।
—विशेषावश्यक, भाष्य गा० १६३७

४८. अहवा नेगतोऽय ससारी सव्वहा अमुत्तोत्ति।
जमणाइकम्मसतइपरिणामावन्नरूवो सो॥
—विशेषावश्यक, भाष्य गा० १६३८

४९ वण्ण रस पच गन्धा, दो फासा अट्ठ णिच्छिया जीवे।
णो सति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति वधादो॥
—द्रव्यसग्रह

५० समिय दुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्ट अणुपरियट्टइ।
—आचाराग २।६।१०५

५१. दु खनिमित्तत्वाद् दु ख कर्म, तद्वान् जीवो दु खी।
—भगवती, टीका ७।१।२३६

महावीर—गौतम ! दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है, अदुःखी दुःख से स्पृष्ट नही होता है। दुःख का स्पर्श, पर्यादान (ग्रहण), उदीरणा, वेदना, और निर्जरा दुःखी जीव करता है, अदुःखी नही।[५२]

गौतम—भगवन् ! कर्म कौन बाधता है—सयत, असंयत, अथवा सयतासयत ?

महावीर—असयत, सयतासंयत और संयत ये सभी कर्म बाँधते है।[५३]

तात्पर्य यह है कि जो सकर्म आत्मा है वे ही कर्म बाधती हैं, उन्ही पर कर्म का प्रभाव होता है।

कर्म बंध के कारण :

जीव के साथ कर्म का अनादि सम्बन्ध है किन्तु कर्म किन कारणो से बधते है, यह एक सहज जिज्ञासा है। गौतम ने प्रश्न किया—भगवन् ! जीव कर्म बन्ध कैसे करता है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से, दर्शनावरणीय कर्म का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शनमोह का उदय होता है। दर्शनमोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है और मिथ्यात्व के उदय से जीव आठ प्रकार के कर्मो को बाँधता है।[५४]

स्थानाङ्ग[५५] समवायाग[५६] मे तथा उमास्वाति ने कर्मबंध के

---

५२. भगवती ७।१।२६६

५३. भगवती ६।३

५४. भते ! जीवे अट्ठ कम्मपगडीओ बंधति ?
गोयमा ! णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएण दरिसणावरणिज्ज कम्म नियच्छति, दरिसणावरणिस्स कम्मस्स उदएण दसणमोहणिज्ज कम्मं णिगच्छइ, दंसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएण मिच्छत्त णिगच्छइ, मिच्छत्तेण उदिण्णेण एवं खलु जीवे अट्ठकम्मपगडीओ बधइ।
प्रज्ञापना २३।१।२८९

५५ पच आसवदारा पण्णत्ता,—समवायाग, समवाय ५।

५६. स्थानाङ्ग ४१८।

पाँच करण बताये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग।[५७]

संक्षेप दृष्टि से कर्म बंध के दो कारण हैं—कषाय और योग।[५८]

कर्मबन्ध के चार भेद हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश।[५९] इनमे प्रकृति और प्रदेश का बंध योग से होता है। स्थिति व अनुभाग का बंध कषाय से होता है।[६०] संक्षेप मे कहा जाय तो कषाय ही कर्म बंध का मुख्य हेतु है।[६१] कषाय के अभाव मे सम्परायिक कर्म का बंध नही होता। दसवें गुणस्थान तक दोनो कारण रहते है अत वहाँ तक साम्परायिक बंध होता है। कषाय और योग से होने वाला बंध साम्परायिक बन्ध कहलाता है। और गमनागमन आदि क्रियाओ से जो कर्म बंध होता है वह ईर्यापथिक बंध कहलाता है।[६२] ईर्यापथ कर्म की स्थिति उत्तराध्ययन[६३] प्रज्ञापना[६४] मे दो समय की मानी है और

---

५७ मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव ।

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।१

५८. जोगबधे, कसायबधे ।

—समवायाङ्ग

५९. प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधय. ।

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।४

६०. जोगा पयडिपएस ठिइअणुभाग कसायओ कुणइ ।

—पंचम कर्मग्रन्थ गा० ९६

जीवाणं चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिसु त० कोहेण, माणेणं, मायाए, लोभेण । —स्थानांग, ४ स्थान

६१. सकषायत्वाज्जीव. कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते ।

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।२

६२. सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयो ।

—तत्त्वार्थ० ६।५

६३. जाव सजोगी भवइ, ताव ईरियावहियं कम्म निबन्धइ सुहफरिस दुसमयठिइयं । त पढमसमए बद्धं, बिइयसमये वेइय, तइयसमये निज्जिण्णं । —उत्तरा० अ० २९ प्र० ७१

६४ सातावेदणिज्जस्स इरियावहियबधग पडुच्च अजहण्णमणुक्कोसेणं दो समया । —प्रज्ञापना २३।१३ पृ० १३७

पं० सुखलाल जी ने[६५] सिर्फ एक समय की मानी है। योग होने पर भी अगर कषायाभाव हो तो उपार्जित कर्म की स्थिति या रस का वंध नही होता। स्थिति और रस दोनो का वंध का कारण कषाय ही है।

विस्तार से कषाय के चार भेद है—क्रोध, मान, माया और लोभ।[६६] स्थानाङ्ग और प्रज्ञापना मे कर्म वध के ये चार कारण वताये हैं। सक्षेप मे कषाय के दो भेद हैं राग और द्वेष।[६७] राग और द्वेष इन दोनो मे भी उन चारो का समन्वय हो जाता है। राग मे माया और लोभ, तथा द्वेष मे क्रोध और मान का समावेश होता है।[६८] राग और

---

६५ तत्त्वार्थ सूत्र—प० सुखलाल जी पृ० २१७

६६ कोह च माण च तहेव माय,
लोभ चउत्थ अज्झत्थ-दोसा।

—सूत्रकृताङ्ग, सूत्र ६।२६

(ख) स्थानाङ्ग ४।१।२५१

(ग) प्रज्ञापना २३।१।२६०

६७ रागो य दोसो वि य कम्मबीय।

—उत्तरा० ३२।७

६८ दोहि ठाणेहि पापकम्मा वधति ' रागेण य दोसेण य। रागे दुविहे पण्णत्ते।' माया य लोभे य। दोसे दुविहे ' कोहे य माणे य '।

—स्थानाङ्ग सूत्र २।३

(ख) जीवेण भते, णाणावरणिज्ज कम्म कतिहि ठाणेहि वधति ? गोयमा ! दोहि ठाणेहि, तजहा—रागेण य दोसेण य। रागे दुविहे पण्णत्ते त जहा—माया य लोभे य। दोसे दुविहे पण्णत्ते तं जहा—कोहे य माणे य।

—प्रज्ञापना, २३

(ग) परिणमदि जदा अप्पा, सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
त पविसदि कम्मरय, णाणावरणादिभावेहि॥

—प्रवचनसार, गा० ९५

द्वेष के द्वारा ही अष्टविध कर्मों का बधन होता है।[६९] अत राग द्वेष को ही भाव कर्म माना है।[७०] राग-द्वेष का मूल मोह ही है।

आचार्य हरिभद्र ने लिखा है—जिस मनुष्य के शरीर पर तेल चुपडा हुआ हो, उसका शरीर उडने वाली धूल से लिप्त हो जाता है, वैसे ही राग द्वेष के भाव से आक्लिन्न हुए आत्मा पर कर्म रज का बध हो जाता है।[७१]

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि मिथ्यात्व को जो कर्मबन्धन का कारण कहा है, उसमें भी राग द्वेष ही प्रमुख है। राग-द्वेष की तीव्रता से ही ज्ञान विपरीत होता है। इसके अतिरिक्त जहाँ मिथ्यात्व होता है वहाँ अन्य कारण स्वत होते हैं। अत शब्द भेद होने पर भी सभी का सार एक है। केवल सक्षेप-विस्तार के विवक्षाभेद से उक्त कथनो मे भेद समझना चाहिए।

जैन दर्शन की तरह बौद्धदर्शन ने भी कर्मबधन का कारण मिथ्याज्ञान अथवा मोह माना है।[७२] न्याय दर्शन का भी यही मन्तव्य है कि मिथ्याज्ञान ही मोह है, प्रस्तुत मोह केवल तत्त्वज्ञान की अनुत्पत्ति रूप नही है, किन्तु शरीर, इन्द्रिय, मन, वेदना, बुद्धि ये

---

६९. बद्ध्यतेऽष्टविधेन कर्मणा येन हेतुभूतेन तद् बन्धनम्।

—प्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति, आचार्य नमि

७०. उत्तराध्ययन ३२।७

(ख) स्थानाङ्ग २।२

(ग) समयसार ६४।६६।१०६।१७७

(घ) प्रवचनसार १।८४।८८

७१. स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य,

रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम्।

राग-द्वेषाक्लिन्नस्य,

कर्म-बंधो भवत्येवम् ॥

—आवश्यक टीका

७२. सुत्तनिपात, ३।१२।३३

(ख) विसुद्धिमग्ग, १७।३०२

(ग) मज्झिम निकाय, महातण्हासंखयसुत्त, ३८

अनात्मा होने पर भी इनमे "मैं ही हूँ" ऐसा ज्ञान मिथ्याज्ञान और मोह है। यही कर्म बन्धन का कारण है।[७३] वैशेषिक दर्शन भी प्रकृत कथन का समर्थन करता है।[७४] साख्यदर्शन भी वध का कारण विपर्यास मानता है[७५] और विपर्यास ही मिथ्याज्ञान है। योगदर्शन क्लेश को वध का कारण मानता है और क्लेश का कारण अविद्या है।[७७] उपनिषद्[७८] भगवद्गीता,[७९] और ब्रह्मसूत्र मे भी अविद्या को ही वध का कारण माना है।

---

७३ न्यायभाष्य ४।२।१

(ख) दु खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग ।

—न्यायसूत्र १।१।२

(ग) तत्त्रैराश्य रागद्वेपमोहान्तर्भावात् ।

—न्यायसूत्र ४।१।३

(घ) तेपा मोह पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्ते ।

—न्यायसूत्र ४।१।६

७४ प्रशस्तपाद पृ० ५३८ विपर्ययनिरूपण ।

(ख) प्रशस्तपाद भाष्य, ससारापवर्ग प्रकरण ।

७५ साख्यकारिका—४४-४७-४८

७६. ज्ञानस्य विपर्ययोऽज्ञानम् ।

—माठर वृत्ति ४४

७७. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा पञ्च क्लेशा ।
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेपा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ।।

—योगदर्शन २।३।४

७८. अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वयं धीरा पण्डितमन्यमाना ।
दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा, अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धा. ।।

—कठोपनिपद् १।२।५

७९. अज्ञानेनावृत ज्ञान, तेन मुह्यन्ति जन्तव,
ज्ञानेन तु तदज्ञान, येपा नाशितमात्मन ।
× × ×
तेपामादित्यवज्ज्ञान प्रकाशयति तत्परम् ।।

—भगवद्गीता ५।१५६

इस प्रकार जैन दर्शन और अन्य दर्शनो मे कर्म बध के कारणो मे शब्दभेद और प्रक्रियाभेद होने पर भी मूल भावनाओ मे खास भेद नही है।

ईश्वर और कर्मवाद .

जैन दर्शन का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही उसे फल प्राप्त होता है।[८०] न्यायदर्शन[८१] की तरह वह कर्म फल का नियन्ता ईश्वर को नही मानता। कर्म फल का नियमन करने के लिए ईश्वर की आवश्यकता नही है। कर्म परमाणुओ मे जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम समुत्पन्न होता है।[८२] जिससे वह द्रव्य,[८३] क्षेत्र, काल, भाव, भव, गति, स्थिति[८४] प्रभृति उदय के अनुकूल सामग्री से विपाक-प्रदर्शन मे समर्थ होकर आत्मा के सस्कारो को मलिन करता है। उससे उनका फलोपभोग होता है। पीयूष और विष, पथ्य और अपथ्य भोजन मे कुछ भी ज्ञान नही होता, तथापि आत्मा का सयोग पाकर वे अपनी अपनी प्रकृति के अनुकूल विपाक उत्पन्न करते है। वह बिना किसी प्रेरणा अथवा बिना ज्ञान के अपना कार्य करते ही है। अपना प्रभाव डालते ही हैं।

कालोदायी अनगार ने भगवान् श्री महावीर से प्रश्न किया—भगवन्! क्या जीवो के किये गये पाप कर्मो का परिपाक पापकारी होता है।[८५]

---

८०. अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
—उत्तरा० २०।३७

८१ ईश्वर कारण पुरुषकर्माफलस्य दर्शनात्।
—न्याय दर्शन, सूत्र ४।१

(ख) तत्कारित्वादहेतु ।
—गौतमसूत्र, अ० ४, आ० १ सू० २१

८२. भगवती ७-१०।

८३. दव्व खेत्त, कालो, भवो य भावो य हेयवो पच।
हेतुसमासेणुदओ जायइ सव्वाण पगईण॥
—पचसग्रह

८४. प्रज्ञापना पृष्ठ २३

८५. भगवती ७।१०

भगवान् ने उत्तर दिया—कालोदायी, हाँ, होता है।

कालोदायी ने पुनः जिज्ञासा व्यक्त की—भगवन्! किस प्रकार होता है?

भगवान् ने रूपक की भाषा में समाधान करते हुए कहा—कालोदायी! जिस प्रकार कोई पुरुष मनोज्ञ, सम्यक् प्रकार से पका हुआ शुद्ध, अष्टादश व्यंजनों से परिपूर्ण विषयुक्त भोजन करता है। वह भोजन आपातभद्र—खाते समय—अच्छा होता है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसका परिणमन होता है त्यों-त्यों उसमें विकृति उत्पन्न होती है, वह परिणामभद्र नहीं होता। इसी प्रकार प्राणातिपात यावत् मिथ्या-दर्शन शल्य (अठारह प्रकार के पाप कर्म) आपातभद्र और परिणाम-अभद्र होते हैं। कालोदायी, इसी प्रकार पाप कर्म पापविपाक वाले होते हैं।[८६]

कालोदायी ने निवेदन किया—भगवन्! क्या जीवों के किये हुए कल्याण-कर्मों का परिपाक कल्याणकारी होता है?

भगवान् ने कहा—हाँ, होता है।

कालोदायी ने पुनः तर्क किया—भगवन्! कैसे होता है?

भगवान् ने कहा—कालोदायी! प्राणातिपातविरति यावत् मिथ्या दर्शनशल्य विरति आपातभद्र प्रतीत नहीं होती, पर परिणामभद्र होती है। इसी प्रकार हे कालोदायी! कल्याणकर्म भी कल्याणविपाक वाले होते हैं।[८७]

---

८६. अत्थि णं भंते! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति? हंता, अत्थि। कह णं भंते! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवाग-[illegible] कज्जंति? ... कालोदाई! [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] एवामेव कालोदाई! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति। —भगवती ७।१०

८७. अत्थि णं भंते! जीवाणं कल्लाणा कम्मा कल्लाणफलविवागसंजुत्ता कज्जंति?

दर्शन की तरह वह कर्म फल के संविभाग में विश्वास नहीं करता। विश्वास ही नही, किन्तु उस विचारधारा का खण्डन भी करता है।[९२] एक व्यक्ति का कर्म दूसरे व्यक्ति मे विभक्त नही किया जा सकता। यदि विभाग को स्वीकार किया जायेगा तो पुरुषार्थ और साधना का मूल्य ही क्या है? पाप पुण्य करेगा कोई और, भोगेगा कोई और। अत. यह सिद्धान्त युक्ति-युक्त नही है।

कर्म का कार्य

कर्म का मुख्य कार्य है—आत्मा को संसार मे आबद्ध रखना। जब तक कर्मबध की परम्परा का प्रवाह प्रवहमान रहता है, तब तक आत्मा मुक्त नही बन सकता। यह कर्म का सामान्य कार्य है। विशेष रूप से देखा जाय तो भिन्न भिन्न कर्मों के भिन्न भिन्न कार्य है, जितने कर्म हैं उतने ही कार्य हैं। जैन कर्मशास्त्र की दृष्टि से कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ हैं, जो प्राणी को विभिन्न प्रकार के अनुकूल एव प्रतिकूल फल प्रदान करती हैं। उनके नाम ये है—(१) ज्ञानावरण

---

९२. आत्ममीमासा प० दलसुख मालवणिया पृ० १३१

(ख) श्री अमर भारती, भारतीय दर्शनो मे कर्मविवेचन।

—उपाध्याय अमरमुनि

९३ मिलिन्द प्रश्न ४।८।३०–३५ पृ० २८८

(ख) कथावत्थु ७।६।३। पृ० ३४८

९४ स्वय कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फल तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुट।
स्वय कृत कर्म निरर्थक तदा॥
निजार्जित कर्मं विहाय देहिनो,
न कोऽपि कस्यापि ददाति किञ्चन।
विचारयन्नेवमनन्य - मानस.
परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्॥

—द्वात्रिंशिका, आचार्य अमितगति ३०–३१

(२) दर्शनावरण (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र (८) और अन्तराय।[९५]

इन आठ कर्म-प्रकृतियों के भी दो अवान्तर भेद हैं। इनमें चार घाती हैं, और चार अघाती हैं। ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) मोहनीय (४) अन्तराय ये चार घाती हैं।[९६] (१) वेदनीय (२) आयु (३) नाम और (४) गोत्र ये अघाती हैं।[९७]

जो कर्म आत्मा से बंधकर उसके स्वरूप का या उसके स्वाभाविक गुणों का घात करते हैं वे घाती कर्म हैं। इन की अनुभाग-शक्ति का

---

९५. नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य॥
नामकम्मं च गोयं च, अन्तरायं तहेव य।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ।

—उत्तराध्ययन ३३।२–३

(ख) स्थानाङ्ग ८।३।५९६
(ग) प्रज्ञापना २३।१
(घ) भगवती शतक ६, उद्दे० ९ पृ० ४५३
(ङ) तत्त्वार्थ सूत्र ८।५
(च) प्रथम कर्मग्रन्थ गा० ३
(छ) पंचसंग्रह २–२

९६. तत्र घातीनि चत्वारि, कर्माण्यन्वर्थसंज्ञया।
घातकत्वाद् गुणानां हि जीवस्यैवेति वाक्स्मृतिः॥

—पंचाध्यायी २।९९८

(ख) आवरणमोहविग्घं, घादी जीवगुणघादणत्तादो।

—गोमटसार-कर्मकाण्ड ९

९७ ततः शेषचतुष्कं स्यात्, कर्माघातिविवक्षया।
गुणानां घातकाभावशक्तेरप्यात्मशक्तिवत्॥

—पंचाध्यायी २।९९९

(ख) आउगणामं गोदं, वेयणिय तह अघादित्ति।

—गोमटसार-कर्मकाण्ड ९

सीधा असर आत्मा के ज्ञान आदि गुणो पर होता है। इनसे गुण विकाश अवरुद्ध होता है, जैसे बादल सहस्ररश्मि सूर्य के चमचमाते प्रकाश को आच्छादित कर देता है, उसकी रश्मियो को बाहर नही आने देता, वैसे ही घाती कर्म आत्मा के मुख्य गुण (१) अनन्त ज्ञान (२) अनन्त दर्शन (३) अनन्त सुख (४) और अनन्त वीर्य गुणो को प्रकट नही होने देता। ज्ञानावरणीय कर्म जीव की अनन्त ज्ञान शक्ति को प्रकट नही होने देता। दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के अनन्त दर्शन शक्ति के प्रादुर्भाव को रोकता है। मोहनीय कर्म आत्मा के सम्यक् श्रद्धा, और सम्यक् चारित्र गुण का अवरोध करता है, जिससे आत्मा को अनन्त सुख प्राप्त नही होता। अन्तराय कर्म आत्मा की अनन्त वीर्यशक्ति आदि का प्रतिघात करता है, जिससे आत्मा अपनी अनन्त विराट् शक्ति का विकास नही कर पाता। इस प्रकार घातीकर्म आत्मा के विभिन्न गुणो का घात करते हैं।

जो कर्म आत्मा के निज गुण का घात नही कर केवल आत्मा के प्रतिजीवी गुणो का घात करता है, वह अघाती कर्म है। अघाती कर्मों का सीधा सम्बन्ध पौद्गलिक द्रव्यो से होता है, इनकी अनुभाग-शक्ति जीव के गुणो पर सीधा असर नही करती। अघाती कर्मों के उदय से आत्मा का पौद्गलिक द्रव्यो से सम्बन्ध जुडता है। जिससे आत्मा "अमूर्तोऽपि मूर्त इव" रहती है। उसे शरीर के कारागृह मे बद्ध रहना पड़ता है। जो जीव के गुण (१) अव्याबाध सुख (२) अटल अवगाहन (३) अमूर्तिकत्व और (४) अगुरुलघुभाव को प्रकट नही होने देता। वेदनीयकर्म आत्मा के अव्याबाध सुख को आच्छन्न करता है। आयुष्य कर्म आत्मा की अटल अवगाहना-शाश्वत स्थिरता को नही होने देता। नाम कर्म आत्मा की अरूपी अवस्था को आवृत किये रहता है। गोत्र कर्म आत्मा के अगुरुलघुभाव को रोकता है। इस प्रकार अघाती कर्म अपना प्रभाव दिखाते है। जब घाति कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब आत्मा केवलज्ञान, केवलदर्शन का धारक अरिहन्त बन जाता है।[६८] और जब अघाती कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब विदेह, सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

---

६८. मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तराय-क्षयाच्च केवलम्।

—तत्त्वार्थ १०।१

ज्ञानावरण कर्म

जीव चैतन्यमय है। उपयोग उसका लक्षण है।[99] उपयोग शब्द ज्ञान और दर्शन का सग्राहक है।[100] ज्ञान साकारोपयोग है और दर्शन निराकारोपयोग।[101] जिससे जाति, गुण, क्रिया आदि विशेष धर्मों का बोध होता है वह ज्ञानोपयोग है और जिससे सामान्य धर्म अर्थात् सत्ता मात्र का बोध होता है वह दर्शनोपयोग है।[102] जिस कर्म के प्रभाव से ज्ञानोपयोग आच्छादित रहता है वह ज्ञानावरण कर्म है। आत्मा के ज्योतिर्मय स्वभाव को आवृत करने वाले इस कर्म की तुलना कपडे की पट्टी से की गई है। जैसे नेत्रो पर कपडे की पट्टी लगा देने से नेत्र-ज्ञान अवरुद्ध हो जाता है वैसे ही ज्ञानावरण कर्म के प्रभाव से आत्मा की समस्त पदार्थों को सम्यक्तया जानने की ज्ञान-शक्ति आच्छादित हो जाती है।[103]

---

९९ जीवो उवओग लक्खणो।

—उत्तरा० २८।१०

१००. जीवो उवओगमओ, उवओगो णाणदसणो होई।

—नियमसार, १०

१०१ स द्विविधोऽष्टचतुर्भेद.।

—तत्त्वार्थ० २।९

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र भाष्य २।९

१०२ प्रमाणनयतत्त्वालोक २।७

१०३ एँस ज आवरण पडुव्व चक्खुस्स त तयावरण।

—प्रथम कर्मग्रन्थ, ९

(ख) पडपडिहारसिमिज्जाहलिचित्तकुलालभडयारीण,
जह एदेसिं भावा तहवि य कम्मा मुणेयव्वा।

—गोमटसार (कर्मकाण्ड) २१

ज्ञानावरण कर्म की पाँच उत्तर प्रकृतियाँ हैं—(१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुतज्ञानावरण (३) अवधि ज्ञानावरण (४) मन पर्याय ज्ञानावरण (५) केवल ज्ञानावरण।[१०४]

मतिज्ञानावरण कर्म इन्द्रियो व मन से होने वाले ज्ञान का निरोध करता है। श्रुतज्ञानावरण कर्म शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से होने वाले ज्ञान को आच्छादित करता है। अवधिज्ञानावरण कर्म इन्द्रिय और मन की सहायता के विना होने वाले रूपी पदार्थो के मर्यादित प्रत्यक्ष ज्ञान को अवरुद्ध करता है। मन पर्यायज्ञानावरण कर्म इन्द्रिय तथा मन की सहायता के विना सज्ञी जीवो के मनोगत भावो को जानने वाले ज्ञान को आच्छादित करता है। केवल ज्ञानावरण कर्म, सर्व द्रव्यों और पर्यायो को युगपत् प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को आवृत करता है।

ज्ञानावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ सर्व घाती और देश घाती रूप से दो प्रकार की है।[१०५] जो प्रकृति स्वघात्य ज्ञान गुण का पूर्णतया घात करे वह सर्वघाती है और जो स्वघात्य ज्ञान गुण का आशिक रूप से घात करे वह देशघाती है। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन. पर्याय ज्ञानावरण ये चार

(ग) सरउग्गयससिनिम्मलयरस्स जीवस्स छायण जमिह।
णाणावरण कम्म पडोवम होइ एव तु॥
—स्थानांग, २।४।१०५ टीका मे उद्धृत

१०४. नाणावरण पचविह, सुय आ[illegible]
ओहिनाण च तइय मणनाण [illegible]
—उत्तरा[illegible]

(ख) प्र[illegible]
(ग) स[illegible]
(घ) त[illegible]

१०५ [illegible]

[illegible]

देशघाती हैं और केवल ज्ञानावरण सर्वघाती है। सर्वघाती कहने का तात्पर्य प्रबलतम आवरण की अपेक्षा से है। केवल ज्ञानावरणीय कर्म सर्वघाती होने पर भी आत्मा के ज्ञान गुण को सर्वथा आवृत नही करता, परन्तु केवल ज्ञान का सर्वथा निरोध करता है। निगोदस्थ जीवो मे उत्कट ज्ञानावरणीय कर्म का उदय रहता है। जैसे घनघोर घटाओ से सूर्य के पूर्णत. आच्छादित होने पर भी उसकी प्रभा का कुछ अंश अनावृत रहता है जिससे दिन और रात का विभाग प्रतीत होता है, वैसे ही ज्ञान का अनन्तवा भाग नित्य अनावृत रहता है।[१०६] जैसे घनघोर घटाओ को विदीर्ण कर सूर्य की प्रभा भूमण्डल पर आती है, पर सभी मकानो पर उसकी प्रभा एक सदृश नही गिरती, मकानो की बनावट के अनुसार मन्द और मन्दतर और मन्दतम गिरती है, वैसे ही ज्ञान की प्रभा मतिज्ञानावरण आदि के उदय के तारतम्य के अनुसार मन्द, मन्दतर और मन्दतम होती है। ज्ञान, पूर्णरूप से तिरोहित कभी नही होता। यदि ऐसा हो जाय तो जीव अजीव हो जाए।

इस कर्म की स्थिति अधिकतम तीस कोटा-कोटि सागरोपम और न्यूनतम अन्तर्मुहूर्त की है।[१०७]

---

१०६ (क) देश —ज्ञानस्याऽऽभिनिबोधिकादिमावृणोतीति देशज्ञानावरणीयम्, सर्व ज्ञान—केवलाख्यमावृणोतीति सर्वज्ञानावरणीय, केवलावरण हि आदित्यकल्पस्य केवलज्ञानरूपस्य। जीवस्याच्छादकतया सान्द्रमेघवृन्द-कल्पमिति तत्सर्वज्ञानावरण। मत्याद्यावरण तु घनातिच्छादितादित्ये-षत्प्रभाकल्पस्य केवलज्ञानदेशस्य कटकुड्यादिरूपावरणतुल्यमिति देशावरणमिति। —ठाणाङ्ग, २।४।१०५ टीका

(ख) स्थानाङ्ग-समवायाङ्ग, पृ० ९४–९५ प० दलसुख मालवणिया।

(ग) सव्वजीवाण पि य ण अक्खरस्स
अणतभागो णिच्चुग्घाडिओ हवइ।
जइ पुण सो वि आवरिज्जा तेण जीवो अजीवत्त पावेज्जा।
'सुट्ठुवि मेहसमुदये होइ पभा चन्दसूराण।'
— नन्दीसूत्र ४३

१०७ उदहीमरिसनामाण, तीसइ कोडिकोडीओ।
उक्कोसिया ठिई होइ, अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥

दर्शनावरण कर्म

पदार्थों की विशेषता को ग्रहण किये बिना केवल उनके सामान्य धर्म का वोध करना दर्शनोपयोग है।[१०८] जिस कर्म के प्रभाव से दर्शनोपयोग आच्छादित रहता है वह दर्शनावरणीय कर्म है। दर्शन गुण के सीमित होने पर ज्ञानोपलब्धि का द्वार वन्द हो जाता है। इस कर्म की तुलना शासक के उस द्वारपाल से की गई है जो शासक से किसी व्यक्ति को मिलने मे बाधा उपस्थित करता है। द्वारपाल की विना आज्ञा के व्यक्ति शासक से नही मिल सकता, वैसे ही दर्शनावरण कर्म वस्तुओ के सामान्य बोध को रोकता है।[१०९] पदार्थों के देखने मे अड़चन डालता है।

दर्शनावरण कर्म की नौ उत्तर प्रकृतियाँ हैं—(१) चक्षुर्दर्शनावरण, (२) अचक्षुर्दर्शनावरण, (३) अवधिदर्शनावरण, (४) केवल दर्शनावरण, (५) निद्रा, (६) निद्रानिद्रा, (७) प्रचला, (८) प्रचलाप्रचला, (९) स्त्यानर्द्धि।[११०]

आवरणिज्जाण दुण्हं पि वेयणिज्जे तहेव य।
अन्तराए य कम्मम्मि,' ठिई एसा वियाहिया ॥

—उत्तराध्ययन ३३।१९-२०

(ख) आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य परा स्थिति ।

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।१५

(ग) पञ्चम कर्मग्रन्थ गा० २६

१०८. ज सामन्नग्गहणं, भावाण नेव कट्टु आगार।
अविसेसिऊण अत्थे, दसणमिह वुच्चए समये ॥

१०९. दसणसीले जीवे, दंसणघाय करेइ जं कम्म।
तं पडिहारसमाण, दसणवरणं भवे जीवे ॥

—स्थानाङ्ग २।४।१०५ टीका

दसणचउ पणनिद्दा, वित्तिसम दसणावरण।

—प्रथम कर्मग्रन्थ ९

(ग) गोम्मटसार कर्मकाण्ड २१, नेमिचन्द्र

११०. निद्दा तहेव पयला, निद्दानिद्दा य पयलपयला य।
तत्तो य थीणगिद्धी उ, पचमा होइ नायव्वा ॥

चक्षुर्दर्शनावरण कर्म नेत्रों द्वारा होने वाले सामान्य बोध को आवृत करता है। अचक्षुदर्शनावरण कर्म—चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियो और मन के द्वारा होने वाले सामान्य बोध को आवृत करता है। अवधि दर्शनावरण कर्म—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा को रूपी द्रव्यो का जो सामान्य बोध होता है उसे आच्छादित करता है। केवलदर्शनावरण कर्म सर्व द्रव्य और पर्यायो के युगपत् होने वाले सामान्य अवबोध को आवृत करता है। निद्रा कर्म वह है, जिससे सुप्त प्राणी सुख से जाग सके, ऐसी हल्की निद्रा उत्पन्न हो। निद्रानिद्रा कर्म से ऐसी नीद उत्पन्न होती है जिससे सुप्त प्राणी कठिनाई से जाग सके। प्रचला—जिस कर्म से ऐसी नीद उत्पन्न हो कि खडे-खडे और बैठे-बैठे भी नीद आये। प्रचला-प्रचला कर्म—जिससे चलते-फिरते भी नीद आये। स्त्यानर्धि—जिस कर्म से दिन मे अथवा रात मे सोचे हुए कार्यविशेप को निद्रावस्था मे सम्पन्न करे, वैसी प्रगाढतम नीद।

दर्शनावरण कर्म भी देशघाती और सर्वघाती रूप मे दो प्रकार का है। चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शनावरण देशघाती है और शेष छह प्रकृतियां सर्वघाती है।[111] सर्वघाती प्रकृतियो मे केवल

चक्खुमचक्खूओहिस्स, दसणे केवले य आवरणे।
एव तु नवविगप्प, नायव्व दसणावरण॥

—उत्तरा० ३३।५-६

(ख) समवायाङ्ग सू० ९

(ग) स्थानाङ्ग ८।३।६६८

(घ) चक्षुरचक्षुरवधिकेवलाना निद्रा–निद्रानिद्रा–प्रचला-प्रचला–प्रचला स्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च।

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।८

(ङ) प्रज्ञापना २३।१

(च) कर्मग्रन्थ

१११. दरिसणावरणिज्जे कम्मे एव चेव।

टीका—देशदर्शनावरणीय चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणीय, सर्वदर्शनावरणीय तु निद्रापञ्चक केवलदर्शनावरणीय चेत्यर्थ, भावना तु पूर्ववदिति। —ठाणाङ्ग २।४।१०५

दर्शनावरण प्रमुख है। ज्ञानावरण की तरह इसे भी समझ लेना चाहिए।

दर्शनावरण कर्म का पूर्ण क्षय होने पर जीव की अनन्त दर्शन शक्ति प्रकट होती है, वह केवल दर्शन का धारक बनता है। जब उसका क्षयोपशम होता है तब चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन और अवधि दर्शन प्रकट होता है।

प्रस्तुत कर्म की न्यूनतम स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की है।[११२]

वेदनीय कर्म :

आत्मा के अव्याबाध गुण को आवृत करने वाला कर्म वेदनीय है। वेदनीय कर्म से आत्मा को सुख दुःख का अनुभव होता है। उसके दो भेद हैं—(१) साता वेदनीय, (२) असाता वेदनीय।[११३] साता वेदनीय कर्म से जीव को भौतिक सुखों की उपलब्धि होती है। और असाता वेदनीय कर्म से मानसिक और शारीरिक दुःख प्राप्त होता है।[११४]

वेदनीय कर्म की तुलना मधु से लिप्त तलवार की धार से की गई है। तलवार की धार पर लिप्त मधु को चाटने के

---

११२. उत्तराध्ययन ३३।१९–२०

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र ८।१५

(ग) पचम कर्मग्रन्थ गा० २६

(घ) प्रज्ञापना, पद २९ उ० २, सू० २९३

११३. वेयणीय पि दुविह सायमसाय च आहिय।

—उत्तराध्ययन ३३।७

(ख) स्थानाङ्ग २।१०५

११४. यदुदयाद्देवादिगतिषु शरीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद् वेद्यम्। प्रशस्त वेद्य सद्वेद्यमिति। यत्फल दुःखमनेकविध तदसद्वेद्यम्। अप्रशस्त वेद्यमसद्वेद्यमिति।

—तत्त्वार्थ ८।८, सर्वार्थसिद्धि

सदृश साता वेदनीय है और जीभ कट जाने के समान असाता वेदनीय है।[११५]

सात वेदनीय कर्म-आठ प्रकार का है—मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप, मनोज्ञ गन्ध, मनोज्ञ रस, मनोज्ञ स्पर्श, सुखित मन, सुखित वाणी, सुखित काय जिससे प्राप्त हो[११६]।

असात वेदनीय भी आठ प्रकार का है—अमनोज्ञ शब्द, अमनोज्ञ रूप, अमनोज्ञ गन्ध, अमनोज्ञ रस, अमनोज्ञ स्पर्श, दु खित मन, दु खित वाणी, दु खित काय की प्राप्ति जिससे हो।[११७]

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति उत्तराध्ययन[११८] और प्रज्ञापना[११९]

---

११५. महुलित्तखग्गधारालिहण व दुहा उ वेयणिय।

—प्रथम कर्मग्रन्थ, १२

(ख) तथा वेद्यते—अनुभूयत इति वेदनीय, सात सुख तद्रूपतया वेद्यते यत्तत्तथा, दीर्घत्व प्राकृतत्त्वात्, इतरद्—एतद्विपरीतम् आह च—

महुलित्तनिसियकरवालधार जीहाए जारिस लिहण,
तारिसय सुहदुहउप्पायग मुणह ॥

—ठाणाङ्ग २।४।१०५ टीका

११६ स्थानाङ्ग ८।४८८

(ख) प्रज्ञापना २३।२

११७. स्थानाङ्ग ८।४८८

(ख) असायावेदणिज्जे ण भते कम्मे कतिविधे पण्णत्ते ? गोयमा ! अट्ठविघे पन्नत्ते, त जहा-अमणुण्णा सद्दा, जाव कायदुहया।

—प्रज्ञापना २३।३।१५

११८ उदही सरिसनामाण, तीसई कोडिकोडीओ।
उक्कोसिया ठिई होइ, अन्तोमुहुत्त जहन्निया ॥
आवरणिज्जाण दुण्ह पि वेयणिज्जे तहेव य।
अन्तराए य कम्मम्मि, ठिई एसा वियाहिया ॥

—उत्तरा० ३३।१९-२०

११९. प्रज्ञापना २३।२।२१-२९

मे अन्तमुहूर्त की बताई है। भगवती[१२०] मे दो समय की कही गई है। इन दोनो कथनो मे कोई विरोध नही समझना चाहिए, क्योकि मुहूर्त के अन्दर का समय अन्तमुहूर्त्त कहलाता है। दो समय को अन्तमुहूर्त्त कहने मे कोई विसंगति नही है। वह जघन्य अन्तमुहूर्त्त है। किन्तु तत्त्वार्थ सूत्र[१२१], और अन्य अनेक ग्रन्थो मे बारह मुहूर्त की प्रतिपादित की गई है। उत्कृष्ट स्थिति सर्वत्र तीस कोटाकोटि सागर की है।

मोहनीय कर्म :

जो कर्म आत्मा मे मूढता उत्पन्न करे वह मोहनीय है। आठ कर्मों मे यह सबसे अधिक शक्तिशाली है। अन्य सात कर्म प्रजा है तो मोहनीय कर्म राजा है।[१२२] यह आत्मा के वीतराग भाव—शुद्ध-स्वरूप को विकृत करता है, जिससे आत्मा रागद्वेष आदि विकारो से ग्रस्त होता है। यह कर्म स्व-परविवेक मे तथा स्वरूपरमण मे बाधा समुपस्थित करता है।

इस कर्म की तुलना मदिरापान से की गई है। जैसे मदिरापान से मानव परवश हो जाता है, उसे अपने तथा पर के स्वरूप का भान नही रहता, वह हिताहित के विवेक से विहीन हो जाता है,

---

१२०. वेदणिज्ज जह दो समया।

—भगवती ६।३

१२१. अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य।

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।१९

(ख) वेदनीयप्रकृतेरपरा द्वादशमुहूर्ता स्थितिरिति।

—तत्त्वार्थ भाष्य

(ग) जहन्ना ठिई वेअणीअस्स बारस मुहुत्ता।

नवतत्व साहित्य संग्रह : देवानन्द सूरिकृत, सप्ततत्त्वप्रकरण

(घ) जैनदर्शन पृ० ३५४ डा० मोहनलाल मेहता

१२२. अष्ट कर्म नो राजवी हो, मोह प्रथम क्षय कीन।

— विनयचन्द चौवीसी

वैसे ही मोह कर्म के उदय से जीव को तत्त्व-अतत्त्व का भेद-विज्ञान नही हो पाता, वह संसार के विकारो मे उलझ जाता है।[123]

मोहनीय कर्म दो प्रकार का होता है—(१) दर्शन मोहनीय और (२) चारित्र मोहनीय।[124] यहाँ दर्शन का अर्थ तत्त्वार्थ-श्रद्धान रूप आत्मगुण है।[125] जैसे मदिरापान से बुद्धि मूर्च्छित हो जाती है वैसे ही दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा का विवेक विलुप्त हो जाता है। वह अनात्मीय पदार्थो को आत्मीय समझता है।[126] वह धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानता है।

दर्शन मोहनीय कर्म तीन प्रकार का है[127]—(१) सम्यक्त्व

---

१२३. मज्ज व मोहणीय—

—प्रथम कर्मग्रन्थ, गाथा १३

(ख) जह मज्जपाणमूढो लोए पुरिसो परव्वसो होइ,
तह मोहेण- विमूढो जीवो उ परव्वसो होइ।

—स्थानाङ्ग २।४।१०५ टीका

(ग) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) २१

१२४ मोहणिज्ज पि दुविह दसणे चरणे तहा।

—उत्तराध्ययन ३३.८

(ख) ठाणाङ्ग २।४।१०५

(ग) प्रज्ञापना २३।२

१२५. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्

—तत्त्वार्थ सूत्र १।२

१२६. यथा मद्यादिपानस्य, पाकाद् बुद्धिर्विमुह्यति।
श्वेत शखादि यद्वस्तु, पीत पश्यति विभ्रमात्।
तथा दर्शनमोहस्य, कर्मणस्तूदयादिह।
अपि यावदनात्मीयमात्मीय मनुते कुदृक्॥

—पचाध्यायी २।९८–६–७

१२७. सम्मत्त चेव मिच्छत्त, सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दसणे॥

—उत्तराध्ययन ३३।९

(ख) स्थानाङ्ग २।१८४

मोहनीय—जो कर्म सम्यक्त्व का प्रकट होना तो नही रोक सकता किन्तु औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन को उत्पन्न नही होने देता। (२) मिथ्यात्व मोहनीय—जो कर्म तत्त्व मे श्रद्धा उत्पन्न नही होने देता, और विपरीत श्रद्धा उत्पन्न करता है। (३) मिश्र मोहनीय—जो कर्म तत्त्व श्रद्धा मे दोलायमान स्थिति उत्पन्न करता है। दर्शनमोहनीय के शुद्ध दलिक सम्यक्त्व मोहनीय, अशुद्ध दलिक मिथ्यात्व मोहनीय और शुद्धाशुद्ध दलिक सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय हैं।[१२८] इनमे मिथ्यात्व मोहनीय सर्वघाती है और शेष दो देशघाती है।[१२९]

मोहनीय कर्म का द्वितीय भेद चारित्रमोह है। यह कर्म आत्मा के चारित्र गुण को उत्पन्न नही होने देता।[१३०]

चारित्र मोहनीय के भी दो भेद हैं—(१) कषाय मोहनीय (२) नोकषाय मोहनीय।[१३१] कषाय मोहनीय के सोलह भेद हैं और नो-कषाय मोहनीय के सात अथवा नौ भेद हैं।[१३२]

---

१२८ प्रथम कर्म ग्रन्थ, गा० १४–१६

१२९. केवलणाणावरण, दसणछक्क कषायवारसय।
मिच्छ च सव्वघादी, सम्मामिच्छ अवधम्हि॥
—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ३९

(ख) केवलणाणावरण दसणछक्कं च मोहवारसग।
ता सव्वधाइसन्ना भवति मिच्छत्तवीसइम।
—ठाणाङ्ग २।४।१०५ टीका मे उद्धृत

१३० एव जीवस्य चारित्र गुणोऽस्त्येक प्रमाणसात्।
तन्मोहयति यत्कर्म, तत्स्याच्चारित्रमोहनम्॥
—पंचाध्यायी २।१६

१३१. चरित्तमोहण कम्म, दुविह त वियाहियं।
कसायमोहणिज्ज तु नोकसाय तहेव य॥
—उत्तराध्ययन ३३।१०

(ख) प्रज्ञापना २३।२

१३२. सोलसविहभेएण, कम्म तु कसायज।
सत्तविह नवविह वा, कम्म च नोकसायजं॥
—उत्तरा० ३३।११

कषाय मोहनीय :

कषाय शब्द कष और आय से बना है। कष—संसार आय—लाभ, जिससे ससार अर्थात् भवभ्रमण की अभिवृद्धि हो वह कपाय है।[133] क्रोध, मान, माया और लोभ के रूप मे वह चार प्रकार का है। ये चार भी अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन, यो चार-चार प्रकार के है। इस प्रकार सोलह भेद कपायमोहनीय के हैं। इसके उदय से प्राणी मे क्रोधादि कपाय उत्पन्न होते हैं।

अनन्तानुबन्धी चतुष्क के प्रभाव से जीव अनन्त काल तक ससार मे भ्रमण करता है। यह कषाय सम्यक्त्व का विघातक है।[134]

अप्रत्याख्यानावरणीय चतुष्क के प्रभाव से देशविरति रूप श्रावक धर्म की प्राप्ति नही होती।[135] प्रत्याख्यानावरण चतुष्क के

(ख) प्रज्ञापना २३।२

(ग) स्थानाङ्ग ६।७००;

(घ) समवायाग—१६

१३३. कम्म कसो भवो वा, कसमातो सिं कसाया तो।
कसमाययति व जतो गमयति कस कसायत्ति॥

—आवश्यक मलयगिरि वृत्ति पृ० ११६

—विशेषावश्यक भाष्य गा० १२२७

१३४. (क) अनन्तानुबधी सम्यग्दर्शनोपघाती। तस्योदयाद्धि सम्यग्दर्शन नोत्पद्यते। पूर्वोत्पन्नमपि च प्रतिपतति।

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।१० भाष्य

(ख) अनन्तायनुबध्नन्ति यतो जन्मानि भूतये।
ततोऽनन्तानुबन्ध्याख्या- क्रोधाद्येपु नियोजिता॥

१३५. स्वल्पमपि नोत्सहेद् येपा प्रत्याख्यानमिहोदयात्।
अप्रत्याख्यानसज्ञाऽतो द्वितीयेपु निवेशिता॥

(ख) अप्रत्याख्यानकषायोदयाद्विरतिर्न भवति—

—तत्त्वार्थ भाष्य ८।१०

उदय से सर्वविरति रूप श्रमणधर्म की प्राप्ति नही होती।[136] सज्वलन कषाय के प्रभाव से श्रमण यथाख्यात चारित्ररूप उत्कृष्ट चारित्र प्राप्त नही कर सकता।[137] गोम्मटसार मे भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।[138]

अनन्तानुवन्धी चतुष्क की स्थिति यावज्जीवन की, अप्रत्याख्यानी चतुष्क की एक वर्ष की, प्रत्याख्यानी कषाय की चार माह की और सज्वलन कषाय की स्थिति एक पक्ष की है।[139]

जिनका उदय कषायो के साथ होता है या जो कषायो को उत्तेजित करते हैं वे नोकषाय हैं।[140] इन्हे अकषाय भी कहते हैं।[141] नोकषाय या अकषाय का तात्पर्य कषाय का अभाव नही, किन्तु ईषत्कषाय है।[142] नोकषाय के नौ भेद है—(१) हास्य, (२) रति,

---

१३६ सर्वसावद्यविरति प्रत्याख्यानमुदाहृतम् ।
तदावरणसज्ञाऽतस्तृतीयेषु निवेशिता ॥

(ख) प्रत्याख्यानावरणकषायोदयाद्विरताविरतिर्भवत्युत्तमचारित्र लाभस्तु न भवति ।

तत्त्वार्थ सूत्र ८।१० भाष्य

१३७ (क) सज्वलनकषायोदयाद्यथाख्यातचारित्रलाभो न भवति ।

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।१० भाष्य

१३८ सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे ।
घादति वा कपाया चउ सोल असखलोगमिदा ॥

—गोम्मटसार जीवकाण्ड २८३

१३९. जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरियनर अमरा,
सम्मागुसव्वविरई अहखायचरित्तघायकरा ।

प्रथम कर्मग्रन्थ गा० १८

१४० कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि ।
हास्यादिनवकस्योक्ता नोकषायकपायता ॥

१४१ तत्त्वार्थ राजवार्तिक ८।९।१०

१४२ ईषदर्थे नञ्‌ प्रयोगादीषत्कषायोऽकषाय इति ।

—सर्वार्थसिद्धि ८।९

(३) अरति, (४) भय, (५) शोक, (६) जुगुप्सा[१४३], (७) स्त्री वेद, (८) पुरुष वेद (९) नपुंसक वेद।

इस प्रकार चारित्र मोहनीय की पच्चीस प्रकृतियो मे से सज्वलन कषाय चतुष्क और नोकषाय ये अघाती है, और शेष बारह प्रकृति सर्वघाती हैं।[१४४]

मोहनीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की हैं और उत्कृष्ट सत्तर कोटाकोटी सागर की है।[१४५]

आयुष्कर्म

जीवो के जीवन अवधि का नियामक कर्म आयुष्य है। इस कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीवित रहता है और क्षय होने पर मृत्यु का आलिंगन करता है।[१४६]

इस कर्म की तुलना कारागृह से की गई है। जैसे न्यायाधीश अपराधी को अपराध के अनुसार नियत समय तक कारागृह मे डाल देता है, अपराधी के चाहने पर भी अवधि के पूर्ण हुए बिना वह मुक्त नही हो सकता। वैसे ही आयुष्कर्म के कारण जीव देह से मुक्त नही हो सकता।[१४७]

---

१४३ यदुदयादात्मदोषसवरण परदोषाविष्करण सा जुगुप्सा।

—आचार्य पूज्यपाद

१४४. स्थानाङ्ग २।४।१०५ टीका

(ख) गोम्मटसार कर्मकाण्ड ३९

१४५ (क) उदहीसरिसनामाण, सत्तरि कोडिकोडीओ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥

—उत्तरा ३३।२१

(ख) सप्ततिर्मोहनीयस्य। —तत्त्वार्थ ८।१६

१४६. यद्भावाभावयोर्जीवितमरण तदायु ॥२॥ यस्य भावात् आत्मन जीवित भवति यस्य चाभावात् मृत इत्युच्यते तद्भवधारणमायुरित्युच्यते। — तत्त्वार्थ राजवार्तिक–८।१०।२

(ख) प्रज्ञापना २३।१

१४७ पडपडिहारासि मज्जहडचित्तकुलालभडगारीण।
जह एएसि भावा कम्माणि वि जाण तह भावा॥

—नवतत्त्व साहित्य सग्रह : अव० वृत्यादिसमेतं, नवत्त्व प्रकरणम् ७४

आयुष् कर्म का कार्य सुख दुःख देना नही, किन्तु नियत अवधि तक किसी एक भव मे रोके रखना है।[148]

आयु कर्म की चार उत्तर प्रकृतियाँ है—(१) नरकायु, (२) तिर्यञ्चायु, (३) मनुष्यायु, (४) देवायु।[149] आयु दो रूपो मे उपलब्ध होती है। अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय। बाह्य निमित्तो से आयु का कम होना अपवर्तन है। किसी भी कारण से आयु का कम न होना अनपवर्तन है।[150] मगर आयु कम हो जाने का अभिप्राय यह नही कि आयु कर्म का कुछ भाग बिना भोगे ही नष्ट हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि आयु कर्म के जो प्रदेश धीरे-धीरे बहुत समय मे भोगे जाने वाले थे, वे सब अल्पकाल मे—अन्तर्मुहूर्त मे ही भोग लिये जाते है। लोकव्यवहार मे इसी को अकाल मृत्यु कहते हैं।

(ख) जीवस्स अवट्ठाण करेदि आऊ हडिव्व णरं।

—गोम्मटसार-कर्मकाण्ड ११

(ग) सुरनरतिरिनरयाऊ हडिसरिसं।

—प्रथम कर्म ग्रन्थ २३

१४८ दुक्खं न देइ आउ नवि य सुहं देइ चउसुवि गईसु।
दुक्खसुहाणाहार धरेइ देहट्ठियं जीयं॥

—ठाणाङ्ग २।४।१०५ टीका

१४९ नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि।

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।११

(ख) गोयमा ! आउयस्स ण कम्मस्स जीवेण बद्धस्स जाव चउविहे अणुभावे पन्नत्ते— त जहा-नेरइयाउते, तिरियाउते, मणुयाउते, देवाउए।

—प्रज्ञापना २३।१

(ग) नेरइयतिरिक्खाउ, मणुस्साउं तहेव य।
देवाउय चउत्थं तु, आउ कम्मं चउव्विहं॥

—उत्तराध्ययन ३३।१२

१५०. तत्त्वार्थ सूत्र २।५२, पं० सुखलाल जी का विवेचन पृ० ११२–११६ तक।

आयु कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है।[151] भगवती मे उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि त्रिभाग उपरान्त तेतीस सागरोपम वर्ष कही है।[152]

नाम कर्म :

जिस कर्म से जीव गति आदि पर्यायो के अनुभव करने के लिए बाध्य हो वह नाम कर्म है।[153] अथवा जिस कर्म से जीव मे गति आदि के भेद उत्पन्न हो, देहादि की भिन्नता का कारण हो अथवा जिससे गत्यन्तर जैसे परिणमन हो, वह नाम कर्म है।[154]

प्रस्तुत कर्म की तुलना चित्रकार से की गई है। जिम प्रकार एक चतुर चित्रकार अपनी कल्पना से मानव, पशु, पक्षी, आदि नाना प्रकार के चित्र चित्रित करता है, ऐसे ही नामकर्म भी नारक, तिर्यञ्च, मानव और देवो के शरीर आदि की रचना करता है। इस प्रकार यह कर्म शरीर, अङ्गोपाङ्ग, इन्द्रिय, आकृति, शरीरगठन, यश, अपयश आदि का निर्माता है।[155]

---

१५१ तेत्तीस सागरोवमा, उक्कोसेण वियाहिया।
ठिइ उ आउकम्मस्स, अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥

—उत्तराध्ययन ३३।२२

१५२ आउग ' उक्को, तेत्तीस सायरोवमाणि पुव्वकोडितिभागब्भहियाणि।

—भगवती ६।३

१५३ नामयति—गत्यादिपर्यायानुभवन प्रति प्रवयणति जीवमिति नाम।
प्रज्ञापना २३।१।२८८, टीका

(ख) विचित्रपर्यायैर्नमयति-परिणमयति यज्जीव तन्नाम।

—ठाणाङ्ग २।४।१०५ टीका

१५४ गदिआदि जीवभेद देहादी पोग्गलाण भेद च।
गदियतरपरिणमन करेदि णाम अणेयविह॥

—गोम्मटसार-कर्मकाड १२

१५५. जह चित्तयरो निउणो अणेगरूवाइ कुणइ रूवाइ।
सोहणमसोहणाइ, चोक्खमचोक्खेहि वण्णेहि॥

नाम कर्म के भी मुख्य दो भेद है—शुभ और अशुभ।[१५६] अशुभ नाम पापरूप है और शुभ नाम पुण्यरूप है।

नाम कर्म की मध्यम रूप से बयालीस उत्तर प्रकृतियाँ भी होती हैं।[१५७] वे इस प्रकार है :—

(१) गतिनाम—जन्म-सम्बन्धी विविधता का निमित्त कर्म। इसके चार उपभेद हैं—(क) नरक गतिनाम, (ख) तिर्यञ्च गतिनाम, (ग) मनुष्य गतिनाम (घ) देवगति नास।

(२) जातिनाम—एकेन्द्रियत्व से लेकर पंचेन्द्रियत्व तक का अनुभव कराने वाला कर्म। इसके पाच उपभेद हैं—(क) एकेन्द्रिय जातिनाम, (ख) द्वीन्द्रिय जातिनाम, (ग) त्रीन्द्रिय जातिनाम, (घ) चतुरिन्द्रिय जातिनाम, (ङ) पंचेन्द्रिय जाति नाम।

(३) शरीर नाम—औदारिक आदि शरीर का निर्माण करने वाला कर्म। इसके पाच उपभेद है। (क) औदारिक शरीरनाम, (ख) वैक्रिय शरीरनाम, (ग) आहारक शरीरनाम, (घ) तैजस शरीर नाम, (ङ) कार्मण शरीरनाम।

तह नामपि हु कम्म अणेगरूवाइ कुणइ जीवस्स।
सोहणमसोहणाइ इट्ठाणिट्ठाइ लोयस्स॥

—स्थानाङ्ग २।४।१०५ टीका

(ख) नवतत्त्व साहित्य संग्रह, अवचूर्णि वृत्यादिसमेत।
नवतत्त्व प्रकरणम् ७४

१५६ नाम कम्म तु दुविह सुहमसुह च आहिय।

—उत्तरा० ३३।१३

१५७. (क) समवायाङ्ग, समः ४२,
(ख) प्रज्ञापना २३।२।२९३
(ग) गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसङ्घातसस्थानसहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतय. प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेययशासि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च।

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।१२

(४) शरीर-अगोपाङ्ग नाम —शरीर के अवयवो और प्रत्यवयवो का निमित्तभूत कर्म। इसके तीन उपभेद हैं —(क) औदारिक शरीर अगोपाङ्ग नाम। (ख) वैक्रिय-शरीर अगोपाङ्ग नाम, (ग) आहारक-शरीर अगोपाङ्ग नाम। तैजस् और कार्मणशरीर के अवयव नही होते।

(५) शरीरबन्धन नाम—पूर्व मे ग्रहण किये हुए और वर्तमान मे ग्रहण किये जाने वाले शरीरपुद्गलो के परस्पर सम्बन्ध का निमित्तभूत कर्म। इसके पाँच उपभेद हैं—(क) औदारिक शरीर बन्धन नाम, (ख) वैक्रियशरीर बन्धननाम, (ग) आहारक शरीर बन्धन नाम, (घ) तैजसशरीर बन्धन नाम, (ङ) कार्मण शरीर बन्धन नाम।

शरीर बन्धन नाम कर्म के कर्मग्रन्थ मे विस्तार को विवक्षा से पन्द्रह भेद भी किये हैं —

(१) औदारिक—औदारिक बन्धन नाम।
(२) औदारिक—तैजस बन्धन नाम।
(३) औदारिक—कार्मणबन्धननाम।
(४) वैक्रिय—वैक्रियबन्धननाम।
(५) वैक्रिय—तैजसबन्धननाम।
(६) वैक्रिय—कार्मणबन्धननाम।
(७) आहारक—आहारकबन्धननाम।
(८) आहारक—तैजसबन्धननाम।
(९) आहारक—कार्मणबन्धननाम।
(१०) औदारिक—तैजस कार्मण बन्धन नाम।
(११) वैक्रिय-तैजस कार्मण बन्धन नाम।
(१२) आहारक—तैजसकार्मण बन्धन नाम।
(१३) तैजस—तैजस बन्धन नाम।
(१४) तैजस—कार्मणबन्धननाम।
(१५) कार्मण—कार्मणबन्धन नाम।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक—इन तीनो के पुद्गलो का परस्पर बन्ध नही होता, अतएव यहाँ उनके बन्धन की गणना नही की गई हैं।

(६) शरीर सघातन नाम—शरीर के द्वारा पूर्वगृहीत और गृह्यमाण पुद्गलो की यथोचित व्यवस्था करने वाला कर्म। इसके भी पाँच उपभेद हैं–(क) औदारिक शरीर सघातन नाम, (ख) वैक्रिय शरीर सघातन नाम, (ग) आहारक शरीर सघातन नाम, (घ) तैजस शरीर सघातन नाम, (ङ) कार्मण शरीर संघातन नाम।

(७) सहनन नाम—जिसके उदय से अस्थिबन्ध की विशिष्ट रचना हो। इसके छ उपभेद हैं—(क) वज्रऋषभनाराच सहनन नाम, (ख) ऋषभनाराच सहनन नाम, (ग) नाराच-संहनन नाम, (घ) अर्धनाराच सहनन नाम (ङ) कीलिका-सहनन नाम (च) सेवार्त संहनन नाम।

(८) सस्थान नाम—शरीर की विविध आकृतियो का जिसके उदय से निर्माण हो। इसके भी छ. उपभेद है–(१) समचतुरस्र संस्थान, (२) न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान, (३) सादिसंस्थान नाम, (४) वामन सस्थान नाम, (५) कुब्ज सस्थान नाम, (६) हुण्ड संस्थान नाम।

(९) वर्णनाम—इस कर्म के उदय से शरीर मे रग का निर्माण होता है। इसके भी पाँच उपभेद हैं—(क) कृष्णवर्ण नाम, (ख) नील-वर्ण नाम, (ग) लोहितवर्ण नाम, (घ) हारिद्रवर्ण नाम (ङ) श्वेतवर्ण नाम।

(१०) गन्ध नाम—इस कर्म के उदय से शरीर के गन्ध पर प्रभाव पड़ता है। इसके दो उपभेद हैं—(क) सुरभि-गन्ध नाम, (ख) दुरभि-गन्ध नाम।

(११) रसनाम—इस कर्म के उदय से शरीर के रस पर प्रभाव पडता है। इसके पाँच उपभेद हैं—(क) तिक्त-रस नाम, (ख) कटु रस नाम (ग) कषाय-रस नाम, (घ) आम्ल-रस नाम, (ङ) मधुर-रस नाम।

(१२) स्पर्श नाम—इस क केर्म उदय से शरीर के स्पर्श पर

प्रभाव पड़ता है। इसके आठ उपभेद हैं—(क) कर्कश स्पर्श नाम, (ख) मृदु स्पर्श नाम, (ग) गुरु स्पर्श नाम, (घ) लघु स्पर्श नाम, (ञ) स्निग्ध स्पर्श नाम, (च) रुक्ष स्पर्श नाम, (छ) शीत स्पर्श नाम, (ज) उष्ण स्पर्श नाम।

(१३) अगुरुलघुनाम—जिसके उदय से शरीर अत्यन्त गुरु या अत्यन्त लघु परिणाम को न पाकर अगुरुलघु रूप मे परिणत होता है।

(१४) उपघात नाम—इस कर्म के उदय से जीव विकृत बने हुए अपने ही अवयवो से क्लेश पाता है। जैसे प्रतिजिह्वा, ,चोरदन्त, रसौली आदि।

(१५) पराघात नाम—इस कर्म के उदय से जीव अपने दर्शन और वाणी से ही प्रतिपक्षी और प्रतिवादी को पराजित कर देता है।

(१६) आनुपूर्वी नाम—जन्मान्तर के लिए जाते हुए जीव को आकाश प्रदेश की श्रेणी के अनुसार नियत स्थान तक गमन कराने वाला कर्म। इसके भी चार उपभेद है—(क) नरक-आनुपूर्वीनाम, (ख) तिर्यंच-आनुपूर्वी नाम, (ग) मनुष्य-आनुपूर्वी नाम, (घ) देव-आनुपूर्वी नाम।

(१७) उच्छ्वास नाम—इसके उदय से जीव श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता है।

(१८) आतप नाम—इस कर्म के उदय से अनुष्ण शरीर मे से उष्ण प्रकाश निकलता है।[१५९]

(१९) उद्योत नाम—इसके उदय से शरीर शीतप्रकाशमय होता हैं।[१६०]

(२०) विहायोगति नाम—इसके उदय से प्रशस्त और अप्रशस्त गति होती है। इसके भी दो उपभेद हैं—(क) प्रशस्त

---

१५९ प्रस्तुत कर्म का उदय सूर्य-मण्डल के एकेन्द्रिय जीवो मे होता है। उनका शरीर शीत होता है पर प्रकाश उष्ण होता है।

१६० देव के उत्तर वैक्रिय शरीर मे से, व लब्धिधारी मुनि के वैक्रिय शरीर से तथा चाँद, नक्षत्र, तारागणो से निकलने वाला शीतप्रकाश।

विहायोगति नाम, (ख) अप्रशस्त विहायोगति नाम। यहाँ गति का अर्थ चलना है।

(२१) त्रस नाम—जिस कर्म के उदय से गमन करने की शक्ति प्राप्त हो।

(२२) स्थावर नाम—जिस कर्म के उदय से इच्छापूर्वक गति न होकर स्थिरता प्राप्त होती है।

(२३) सूक्ष्म नाम—जिस कर्म के उदय से जीव को चर्म चक्षुओं से अगोचर सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो।

(२४) बादर नाम—जिस कर्म के उदय से जीव को चर्मचक्षु-गोचर स्थूल शरीर की उपलब्धि हो।

(२५) पर्याप्त नाम—जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण करे।

(२६) अपर्याप्त नाम—जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न कर सके।

(२७) साधारण शरीर नाम—जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों को एक ही साधारण शरीर प्राप्त हो।

(२८) प्रत्येक शरीर नाम—जिस कर्म के उदय से जीवों को भिन्न-भिन्न शरीर की प्राप्ति हो।

(२९) स्थिर नाम—जिस कर्म के उदय से हड्डी, दाँत आदि स्थिर अवयव प्राप्त हो।

(३०) अस्थिर नाम—जिस कर्म के उदय से जिह्वा आदि अस्थिर अवयव प्राप्त हो।

(३१) शुभ नाम—जिस कार्म के उदय होने से नाभि के ऊपर के अवयव प्रशस्त हो।

(३२) अशुभ नाम—जिस कर्म के उदय से नाभि के नीचे के अवयव अशुभ होते हैं।

(३३) सुभग नाम—जिस कर्म के उदय से किसी भी प्रकार का उपकार न करने पर भी और सम्बन्ध न होने पर भी जीव सब के मन को प्रिय लगे।

(३४) दुर्भग नाम—जिस कर्म के उदय से उपकार करने पर और सम्बन्ध होने पर भी अप्रिय लगे।

(३५) सुस्वर नाम—जिसके उदय से जीव का स्वर श्रोता के हृदय मे प्रीति उत्पन्न करे।

(३६) दु स्वर नाम—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर अप्रीतिकारी हो।

(३७) आदेय नाम—जिस कर्म के उदय से जीव का वचन बहुमान्य हो।

(३८) अनादेय नाम—जिस कर्म के उदय से युक्तिपूर्ण वचन भी अमान्य हो।

(३९) यश कीर्तिनाम—जिस कर्म के उदय से ससार मे यश और कीर्ति प्राप्त हो।

(४०) अयश कीर्तिनाम—जिस कर्म के उदय से अपयश और अपकीर्ति प्राप्त हो।

(४१) निर्माण नाम—जिस कर्म के उदय से शरीर के अंग-प्रत्यंग व्यवस्थित हो।

(४२) तीर्थंकर नाम—जिस कर्म के उदय से धर्मतीर्थ की स्थापना करने की शक्ति प्राप्त हो।

प्रज्ञापना[१६१] व गोम्मटसार[१६२] मे नाम कर्म के तिरानवे भेदो का कथन किया गया है और कर्मविपाक मे एक सौ तीन[१६३] भेदो का वर्णन है। अन्यत्र इकहत्तर प्रकृतियो का उल्लेख है, जिनमे शुभ नाम कर्म की सँतीस प्रकृतियाँ मानी है[१६४] और अशुभनाम

१६१ प्रज्ञापना २३।२।२९३

१६२ गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) २२

१६३ कर्मविपाक प० सुखलाल जी हिन्दी अनुवाद पृ० ५८।१०५

१६४ सत्तत्तीस नामस्स, पयईओ पुन्नमाह (हु) ता य इमो।

—नवतत्त्वसाहित्य सग्रह नवतत्त्वप्रकरणम् ७ भाष्य ३७

कर्म की चौतीस[१६५] मानी है। भेदो की यह विविध संख्याएं सक्षेप विस्तार की दृष्टि से ही हैं। इनमे कोई तात्त्विक भेद नही है।

नाम कर्म की अल्पतम स्थिति आठ मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति, वीस कोटाकोटी सागरोपम की है।[१६६]

गोत्रकर्म :

जिस कर्म के उदय से जीव मे पूज्यता, अपूज्यता का भाव समुत्पन्न हो वह गोत्र कर्म है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो जिस कर्म के प्रभाव से जीव उच्चावच कहलाता है वह गोत्रकर्म है।[१६७]

आजार्य उमास्वाति के शब्दो मे—उच्चगोत्रकर्म देश, जाति, कुल, स्थान, मान, सत्कार, ऐश्वर्य प्रभृतिविषयक उत्कर्प का कारण है, और इससे विपरीत नीचगोत्र कर्म चाण्डाल, नट, व्याध, पारिधि, मत्स्यबन्धक, दास आदि भावो का निर्वर्तक है।[१६८]

इस कर्म के मुख्य दो भेद हैं (१) उच्च गोत्र कर्म—जिस कर्म के उदयसे प्राणी लोकप्रतिष्ठित कुल आदि मे जन्म ग्रहण करता है।

---

१६५ मोहछवीसा एसा, एसा पुण होई नाम चउतीसा।

—नवतत्त्वसाहित्य सग्रह : नवतत्त्व प्रकरण ८ भाष्य ४६

१६६. उदहीसरिसनामाण, वीसई कोडिकोडीओ।
नामगोत्ताण उक्कोसा, अट्ठमुहुत्ता जहन्निया ॥

—उत्तरा० ३३।२३

(ख) नामगोत्रयोर्विशति.।
नामगोत्रयोरष्टौ ॥

—तत्त्वार्थ सूत्र अ० ८। १७-२०

१६७. यद्वा कर्मणोऽपादानविवक्षा गूयते-शब्द्यते उच्चावचै. शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मण. उदयात् गोत्र।

—प्रज्ञापना २३।१।२८८ टीका

१६८. उच्चैर्गोत्र देशजातिकुलस्थानमानसत्कारैश्वर्याद्युत्कर्पनिवर्तकम्।
विपरीत नीचैर्गोत्रं चण्डालमुष्टिक व्याधमत्स्यवधदास्यादिनिर्वर्तकम् ॥
तत्त्वार्थ सूत्र ८।१३ भाष्य

(२) नीचगोत्रकर्म—जिस कर्म के उदय से प्राणी का जन्म अप्रतिष्ठित एवं असस्कारी कुल मे होता है।[१६९]

उच्च गोत्र कर्म के भी आठ उपभेद हैं[१७०]—(क) जाति उच्च गोत्र, (ख) कुल उच्च गोत्र, (ग) बल उच्चगोत्र, (घ) रूप उच्चगोत्र, (ङ) तप उच्चगोत्र, (च) श्रुत उच्चगोत्र, (छ) लाभ उच्चगोत्र, (ज) (ज) ऐश्वर्य उच्चगोत्र। इनका अर्थ नाम से ही स्पष्ट है। ध्यान रखना चाहिए कि मातृपक्ष को जाति और पितृपक्ष को कुल कहा जाता है।

नीच गोत्र कर्म के भी आठ उपभेद हैं[१७१]—(क) जातिनीचगोत्र-मातृपक्षीय विशिष्टता के अभाव का कारण, (ख) कुलनीच गोत्र-पितृपक्षीय विशिष्टता के अभाव का कारण। (ग) बलनीच गोत्र—बल-विहीनता का कारण। (घ) रूपनीचगोत्र—रूपविहीनता का कारण (ङ) तप नीचगोत्र—तपविहीनता का कारण (च) श्रुत-नीचगोत्र—श्रुतविहीनता का कारण, (छ) लाभनीचगोत्र—लाभविहीनता का कारण, (ज) ऐश्वर्य-नीचगोत्र—ऐश्वर्यविहीनता का कारण।

इस कर्म की तुलना कुम्हार से की गई है। कुम्हार अनेक प्रकार के घडो का निर्माण करता है। उनमे से कितने ही घडे ऐसे होते हैं जिन्हे लोग कलश बनाकर अक्षत, चन्दन आदि से चर्चित करते हैं, और कितने ही ऐसे होते हैं जो मदिरा रखने के कार्य मे आते हैं और इस कारण निम्न माने जाते हैं। उसी प्रकार जिस कर्म के कारण जीव का व्यक्तित्व श्लाघ्य एव अश्लाघ्य बनता है[१७२] वह गोत्र कर्म कहलाता है।

---

१६९ गोय कम्म तु दुविह, उच्च नीय च आहिय।

—उत्तराध्ययन ३३।१४

१७०. उच्च अट्ठविह होइ, एव नीय पि आहिय।

—उत्तरा० ३३।१४

१७१. प्रज्ञापना—२३।१, २९२, २३।२।२९३

१७२. (क) जह कुभारो भडाइ कुणइ पुज्जेयराइ लोयस्स।
इय गोय कुणइ जिय, लोए पुज्जेयरानत्थ॥

—ठाणाङ्ग २।४।१०५ टीका

गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटी सागरोपम की है।[१७३]

अन्तराय कर्म :

जिस कर्म के उदय से देने, लेने मे, तथा एकबार या अनेक बार भोगने और सामर्थ्य प्राप्त करने मे अवरोध उपस्थित हो वह अन्तराय कर्म है।[१७४]

इस कर्म की तुलना राजा के भंडारी से की गई है। राजा का भण्डारी राजा के द्वारा आदेश देने पर भी दान देने मे आनाकानी करता है, विघ्न डालता है, वैसे ही यह कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य मे बाधा उपस्थित करता है।[१७५]

अन्तराय कर्म की पाँच उत्तर प्रकृतियाँ हैं—

(१) दान-अन्तराय कर्म—इस कर्म के उदय से जीव दान नही दे सकता।

(२) लाभ-अन्तराय कर्म—इस कर्म के उदय से उदार दाता की उपस्थिति मे भी दान का लाभ प्राप्त नही हो सकता, अथवा पर्याप्त सामग्री के रहने पर भी जिसके कारण अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो।

(ख) गोयं दुहुच्चनीय कुलाल इव सुघडभु भलाईयं।

—प्रथम कर्मग्रन्थ, ५२

१७३. उत्तराध्यन ३३।२३

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र० अ० ८।१७–२०

१७४. अस्ति जीवस्य वीर्याख्योऽस्त्येकस्तदादिवत्।
तदन्तरयतीहेदमन्तराय हि कर्म तत्॥

—पंचाध्यायी २।१००७

१७५. जीव चार्थसाधन चान्तरा एति-पततीत्यन्तरायम्। इद चैव-
जह राया दाणाइ ण कुणइ भडारिए विकूलमि।
एव जेरण जीवो, कम्म त अन्तराय ति।

—ठाणांग—२।४।१०५ टीका

(३) भोग-अन्तराय कर्म—जो वस्तु एक बार भोगी जाय वह भोग है। जैसे खाद्य-पेय आदि। इस कर्म के उदय से भोग्य पदार्थ सामने होने पर भी भोगे नही जा सकते। जैसे पेट की खराबी के कारण सरस भोजन तैयार होने पर भी खाया नही जा सकता।

(४) उपभोग-अन्तराय कर्म—जो वस्तु बार-बार भोगी जा सके वह उपभोग है। जैसे—भवन, वस्त्र, आभूषण आदि। इस कर्म के उदय से उपभोग्य पदार्थ होने पर भी भोगे नही जा सकते।

(५) वीर्य अन्तराय कर्म—जिसके उदय से सामर्थ्य का प्रयोग नही किया जा सके और जिसके प्रभाव से जीव के उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषाकार पराक्रम क्षीण होते हैं।

यह अन्तराय कर्म दो प्रकार का है —

(१) प्रत्युत्पन्नविनाशी अन्तराय कर्म—जिसके उदय से प्राप्त वस्तु का विनाश होता है।

(२) पिहित-आगामिपथ अन्तराय कर्म—भविष्य मे प्राप्त होने वाली वस्तु की प्राप्ति का अवरोधक।[१७६]

अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागरोपम की है।[१७७]

जैसे तूंबा स्वभावत जल की सतह पर तैरता है, उसी प्रकार जीव स्वभावत ऊर्ध्वगतिशील है, पर मृत्तिकालिप्त तूंबा जैसे जल मे नीचे जाता है, वैसे ही कर्मों से बद्ध आत्मा की अधोगति होती है। वह भी नीचे जाती है।[१७८]

कर्म बन्ध :

पूर्व मे यह बताया जा चुका है कि इस ससार मे ऐसा कोई स्थान नही, जहाँ कर्मवर्गणा के पुद्गल न हो। प्राणी मानसिक, वाचिक

---

१७६. अन्तराइए कम्मे दुविहे प० त० पडुप्पन्नविणासिए चेव पिहितआगामिपह।

—स्थानाङ्ग २।४।१०५

१७७. उत्तराध्यन ३३।१९

१७८. ज्ञातासूत्र

और कायिक प्रवृत्ति करता है और कषाय के उत्ताप से उत्तप्त होता है, अत वह कर्मयोग्य पुद्गलों को सर्व दिशाओ से ग्रहण करता है। आगमो मे स्पष्ट निर्देश है कि एकेन्द्रिय जीव व्याघात न होने पर छहो दिशाओ से कर्म ग्रहण करते हैं, व्याघात होने पर कभी तीन, कभी चार और कभी पाँच दिशाओ से ग्रहण करते हैं, किन्तु शेष जीव नियम से सर्व दिशाओ से पुद्गल ग्रहण करते हैं।[१७९] किन्तु क्षेत्र के सम्बन्ध मे यह मर्यादा है कि जिस क्षेत्र मे वह स्थित है उसी क्षेत्र मे स्थित कर्म योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है। अन्यत्र स्थित पुद्गलो को नही।[१८०] यह भी विस्मरण नही होना चाहिये कि जितनी योगो की चचलता मे तरतमता होगी उसी के अनुसार न्यूनाधिक रूप मे जीव कर्म पुद्गलो को ग्रहण करेगा। योगो की प्रवृत्ति मन्द होगी तो परमाणुओ की सख्या भी कम होगी। आगमिक भाषा मे इसे ही प्रदेश बंध कहते हैं। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो आत्मा के असख्यात प्रदेश होते है, उन असंख्य प्रदेशो मे से एक-एक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्मप्रदेशो का बन्ध होना प्रदेश बन्ध है। अर्थात् जीव के प्रदेशो और कर्म पुद्गलो के प्रदेशो का परस्पर बद्ध होजाना प्रदेश बन्ध हैं।[१८१]

१७९　सव्वजीवाण कम्म तु, सगहे छद्दिसागय।
　　सव्वेसु वि पएसेसु सव्वं सव्वेण बद्धग ॥
　　　　—उत्तराध्ययन ३३।१८
　(ख) भगवती शतक १७ उद्दे० ४

१८०.　गेण्हति तज्जोग चिय रेणु पुरिसो जहा कयब्भगो।
　　एगक्खेत्तोगाढ　जीवो　सव्वप्पएसेहि ॥
　　　　—विशेषावश्यक भाष्य गा० १९४१ पृ० ११७ द्वि० भा०
　(ख) एगपएसोगाढ सव्वपएसेहि कम्मुणो जोग।
　　बधइ जहुत्तहेउ साइयमणाइय वावि ॥
　　　　—पचसग्रह—२८४

१८१.　प्रदेशा कर्मपुद्गला जीवप्रदेशेष्वोतप्रोता, तद्रूप कर्म प्रदेश कर्म।
　　　　—भगवती १।४।४० वृत्ति
　(ख) प्रदेशो दलसचय.।
　(ग) नतत्त्वसाहित्यसग्रह अव० वृत्यादिसमेत नवतत्त्वप्रकरण गा० ७१ की वृत्ति

गणधर गौतम ने महावीर से पूछा—भगवन् ! क्या जीव और पुद्गल अन्योन्य—एक दूसरे से बद्ध, एक दूसरे से स्पृष्ट, एक दूसरे मे अवगाढ, एक दूसरे मे स्नेह-प्रतिबद्ध है और एक दूसरे मे एकमेक होकर रहते हैं ?

उत्तर मे महावीर ने कहा—हे गौतम, हाँ, रहते हैं।

हे भगवन् ! ऐसा किस हेतु से कहते हैं ?

हे गौतम ! जैसे एक ह्रद हो, जल से पूर्ण, जल से किनारे तक भरा हुआ, जल से लबालब, जल से ऊपर उठा हुआ और भरे हुए घडे की तरह स्थित। अब यदि कोई पुरुष उस ह्रद मे एक बडी, सौ आस्रव-द्वार वाली, सौ छिद्र वाली नाव छोडे तो हे गौतम ! वह नाव उन आस्रव-द्वारो—छिद्रो द्वारा भरती-भरती जल से पूर्ण ऊपर तक भरी हुई, बढते हुए जल से ढंकी हुई होकर, भरे घडे की तरह होगी या नही ?

हे भगवन् ! होगी।

हे गौतम ! उसी हेतु से मैं कहता हूँ कि जीव और पुद्गल परस्पर बद्ध, स्पृष्ट, अवगाढ और स्नेह-प्रतिबद्ध हैं और परस्पर एकमेक होकर रहते हैं।[१८२]

यही आत्म-प्रदेशो और कर्म पुद्गलो का सम्बन्ध प्रदेशबन्ध है।

योगो की प्रवृत्ति द्वारा ग्रहण किये गये कर्मपरमाणु ज्ञान को आवृत करना, दर्शन को आच्छन्न करना, सुख-दुःख का अनुभव कराना आदि विभिन्न प्रकृतियो के रूप मे परिणत होते है। आत्मा के साथ बद्ध होने से पूर्व कार्मण वर्गणा के जो पुद्गल एकरूप थे, बद्ध होने के साथ ही उनमे नाना प्रकार के स्वभाव उत्पन्न हो जाते है। इसे आगम की भाषा मे प्रकृति बन्ध कहते हैं।[१८३]

(घ) नवतत्त्वसाहित्य सग्रह देवानन्दसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरण अ० ४

१८२. भगवती ।१।६

१८३. प्रकृति स्वभाव. प्रोक्त ।

प्रकृति बन्ध, और प्रदेश बन्ध ये दोनो योगो की प्रवृत्ति से होते हैं।[१८४] केवल योगो की प्रवृत्ति से जो बन्ध होता है वह सूखी दीवार पर हवा के झोंके के साथ आने वाली रेती के समान है। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुण स्थान मे कषायाभाव के कारण कर्म का बन्धन इसी प्रकार का होता है। कषायरहित प्रवृत्ति से होने वाला कर्मबन्ध निर्बल, अस्थायी और नाममात्र का होता है, इससे ससार नही बढता।

योगो के साथ कषाय की जो प्रवृत्ति होती है उससे अमुक समय तक आत्मा से पृथक् न होने की कालिक मर्यादा पुद्गलों मे निर्मित होती है। यह काल मर्यादा ही आगम की भाषा मे स्थिति बन्ध है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो आत्मा के द्वारा ग्रहण की गई ज्ञानावरण आदि कर्म पुद्गलो की राशि कितने काल तक आत्म-प्रदेशो मे रहेगी, उसकी मर्यादास्थि तिबन्ध है।[१८५]

जीव के द्वारा ग्रहण की हुई शुभाशुभ कर्मों की प्रकृतियो का तीव्र मन्द आदि विपाक अनुभागबन्ध है। कर्म के शुभ या अशुभ फल की तीव्रता या मन्दता रस है। उदय मे आने पर कर्म का अनुभव तीव्र या मन्द कैसा होगा, यह प्रकृतिप्रभृति की तरह कर्मबन्ध के समय ही नियत हो जाता है। इसे अनुभागबन्ध कहते हैं।[१८६]

जिन कर्मो का आत्मा ने बन्ध कर लिया है वे अवश्य ही उदय मे आते है, और जब उदय मे आते हैं तब उनका फल भोगना पडता

---

१८४ जोगा पयडिपएस।

—पंचम कर्मग्रन्थ, गा० ९६

(ख) ठाणाङ्ग २।४।९६ टीका

१८५ स्थिति कालावधारणम्।

१८६. अनुभाग तेपामेव कर्मप्रदेशाना सवेद्यमानताविषयो रस तद्रूप-कर्मोऽनुभाग-कर्म।

(ख) अनुभागो रसो ज्ञेय।

(ग) विपाकोऽनुभाव।

है। किन्तु अनुकूल निमित्त कारण न हो तो बहुत-से कर्म—प्रदेशो से ही उदय मे आकर—फल दिये बिना ही पृथक् हो जाते है। जब तक फल देने का समय नही आता तब तक बद्ध कर्मों के फल की अनुभूति नही होती। कर्मो के उदय मे आने पर ही उनके फल का अनुभव होता है। बन्ध और उदय के बीच का काल अबाधा काल कहलाता है। बँधे हुए कर्म यदि शुभ होते हैं तो उन कर्मो का विपाक सुखमय होता है। बँधे हुए कर्म यदि अशुभ होते हैं तो उदय मे आने पर उन कर्मो का विपाक दु खमय होता है।

उदय मे आने पर कर्म अपनी मूलप्रकृति के अनुसार ही फल प्रदान करते है। ज्ञानावरणीय कर्म अपने अनुभाव—फल देने की शक्ति के अनुसार ज्ञान का आच्छादन करता है, दर्शनावरणीय कर्म दर्शन को आवृत करता है। इसी प्रकार अन्य कर्म भी अपनी प्रकृति के अनुसार तीव्र या मन्द फल प्रदान करते हैं। उनकी मूल प्रकृति मे उलट फेर नही होता।

पर उत्तर-प्रकृतियो के सम्बन्ध मे यह नियम पूर्णत. लागू नही होता। एक कर्म की उत्तर प्रकृति उसी कर्म की अन्य उत्तर प्रकृति के रूप मे परिवर्तित हो सकती है। जैसे मतिज्ञानावरण कर्म श्रुतज्ञानावरण कर्म के रूप मे परिणत हो सकता है। फिर उसका फल भी श्रुतज्ञानावरण के रूप मे ही होगा। किन्तु उत्तर प्रकृतियो मे भी कितनी ही प्रकृतियाँ ऐसी है जो सजातीय होने पर भी परस्पर संक्रमण नही करती, जैसे दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय के रूप मे और चारित्र मोहनीय दर्शन मोहनीय के रूप मे संक्रमण नही करता। इसी प्रकार सम्यक्त्व वेदनीय और मिथ्यात्व वेदनीय उत्तर प्रकृतियो का भी सक्रमण नही होता। आयुष्य की उत्तर प्रकृतियों का भी परस्पर सक्रमण नही होता। जैसे नारक आयुष्य तिर्यंच आयुष्य के रूप मे या अन्य आयुष्य के रूप मे नही बदल सकता। इसी प्रकार अन्य आयुष्य भी।[१८७]

---

१८७. उत्तरप्रकृतिषु सर्वासु मूलप्रकृत्यभिन्नासु न तु मूलप्रकृतिषु सक्रमो

प्रकृति-सक्रमण की तरह बन्धकालीन रस मे भी परिवर्तन हो सकता है। मन्द रस वाला कर्म, बाद मे तीव्र रस वाले कर्म के रूप मे बदल सकता है और तीव्र रस, मन्द रस के रूप मे हो सकता है।

गणधर गौतम ने महावीर से पूछा—भगवन्! अन्य यूथिक इस प्रकार कहते है कि 'सब जीव एवंभूत-वेदना (जैसा कर्म बाँधा है वैसे ही) भोगते है—यह किस प्रकार है? महावीर ने कहा—गौतम! अन्य यूथिक जो इस प्रकार कहते हैं वह मिथ्या है। मैं इस प्रकार कहता हूँ—कि कई जीव एव भूत वेदना भोगते है और कई अन्-एवभूत वेदना भी भोगते है। जो जीव किये हुए कर्मो के अनुसार ही वेदना भोगते हैं वे एवंभूत वेदना भोगते हैं और जो जीव किए हुए कर्मो से अन्यथा भी वेदना भोगते हैं, वे अन्-एवभूत वेदना भोगते हैं।[१८८]

स्थानाङ्ग मे चतुर्भङ्गी है—(१) एक कर्म शुभ है और उसका विपाक भी शुभ है, (२) एक कर्म शुभ है किन्तु विपाक अशुभ है, (३) एक कर्म अशुभ है पर उसका विपाक शुभ है, (४) एक कर्म अशुभ है और उसका विपाक भी अशुभ है।[१८९]

विद्यते,''' ''''उत्तरप्रकृतिषु च दर्शनचारित्रमोहनीययो. सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयस्यायुष्कस्य च ''''''

—तत्त्वार्थ सूत्र ८।२२ भाष्य

(ख) अनुभवो द्विधा प्रवर्तते स्वमुखेन परमुखेन च। सर्वासा मूलप्रकृतिना स्वमुखेनैवानुभव.। उत्तरप्रकृतीना तुल्यजातीयाना परमुखेनापि भवति। आयुदर्शनचारित्रमोहवर्जानाम्। न हि नरकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते। नापि दर्शनमोहश्चारित्रमोहमुखेन चारित्रमोहो वा दर्शनमोहमुखेन।

—तत्त्वार्थ : ८।२२ सर्वार्थ सिद्धि

(ग) तत्त्वार्थ सूत्र० प० सुखलाल जी हिन्दी द्वि० स० पृ० २९३

मोत्तूण आउय खलु, दसणमोह चरित्तमोह च।
सेसाण पयडीण, उत्तरविहिसकमो भज्जो।

—विशेषावश्यक भाष्य-गा० १९३८

१८८. भगवती ५।५

१८९. स्थानाङ्ग ४.४।३१२

जिज्ञासा हो सकती है कि इसका मूल कारण क्या है ? जैन कर्म-साहित्य समाधान करता है कि कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। मुख्य रूप से उन्हे ग्यारह भेदो मे विभक्त कर सकते हैं[१९०]—(१) वन्ध, (२) सत्ता, (३) उद्वर्तन-उत्कर्ष, (४) अपवर्तन-अपकर्ष, (५) संक्रमण, (६) उदय, (७) उदीरणा, (८) उपशमन, (९) निधत्ति, (१०) निकाचित और (११) अवाधा-काल।

(१) बन्ध —आत्मा के साथ कर्म परमाणुओ का सम्बन्ध होना, क्षीर-नीरवत् एकमेक हो जाना वन्ध है।[१९१] वन्ध के चार प्रकार हैं। इनका वर्णन पूर्व किया जा चुका है।

स्थानाङ्ग की तरह वौद्ध साहित्य मे उल्लेख है —

(१) कितने ही कर्म ऐसे होते हैं जो कृष्ण होते हैं और कृष्ण-विपाकी होते हैं।

(२) कितने ही कर्म ऐसे होते हैं जो शुक्ल होते हैं और शुल्क विपाकी होते हैं।

(३) कितने ही कर्म कृष्ण—शुक्ल मिश्र होते हैं और वैसे ही विपाक वाले होते हैं।

(४) कितने ही कर्म अकृष्ण-शुक्ल होते हैं और अकृष्ण-शुक्ल विपाकी होते है।

—अगुत्तर विकाय ४।२३२—२३३

१९० द्रव्य सग्रह टीका गा० ३३

(ख) आत्म मीमासा—प० दलसुख मालवणिया पृ० १२८

(ग) जैन दर्शन

(घ) श्री अमर भारती वर्ष १

१९१ आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको वन्ध ।

—तत्त्वार्थ सूत्र १।४ सर्वार्थ सिद्धि

(ख) वन्धश्च—जीवकर्मणो . सश्लेप

—उत्तराध्ययन २८।१४ नेमिचन्द्रीय टीका

(ग) वधन वन्ध सकपायत्वात् जीव कर्मणो-योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते य स वन्ध इति भाव ।

—स्थानाङ्ग १।४।९ टीका

(२) सत्ता—आबद्ध कर्म अपना फल प्रदान कर जब तक आत्मा से पृथक् नही हो जाते तब तक वे आत्मा से ही सम्बद्ध रहते है, इसे जैन दार्शनिको ने सत्ता कहा है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो बन्ध होने और फलोदय होने के बीच कर्म आत्मा मे विद्यमान रहते हैं, वह सत्ता है। उस समय कर्मो का अस्तित्व रहता है, पर वे फल प्रदान नही करते।

(३) उद्वर्तन-उत्कर्ष—आत्मा के साथ आबद्ध कर्म की स्थिति और अनुभाग बन्ध तत्कालीन परिणामो मे प्रवहमान कषाय की तीव्र एवं मन्दधारा के अनुरूप होता है। उसके पश्चात् को स्थिति-विशेष अथवा भाव विशेष के कारण उस स्थिति एव रस मे वृद्धि होना उद्वर्तन-उत्कर्ष है।

(४) अपवर्तन-अपकर्ष—पूर्व बद्ध कर्म की स्थिति एव अनुभाग को कालान्तर मे नूतन कर्म-बन्ध करते समय न्यून कर देना अपवर्तन—अपकर्ष है। इस प्रकार उद्वर्तन-उत्कर्ष से विपरीत अपवर्तन-अपकर्ष है।

उद्वर्तन और अपवर्तन की प्रस्तुत विचारधारा यह प्रतिपादित करती है कि आबद्ध कर्म की स्थिति और इसका अनुभाग एकान्तत

(घ) सकषायतया जीव कर्मयोग्यास्तु पुद्गलान्।
यदादत्ते स बन्ध स्याज्जीवास्वातन्त्र्यकारणम्॥

—नवतत्त्वसाहित्यसग्रहः; सप्ततत्त्वप्रकरण गा० १३३

(ङ) वज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबन्धो सो,
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो।

—द्रव्यसग्रह—२।३२, नेमिचन्द्र सि० चक्रवर्ती

(च) द्रव्यतो बन्धो निगडादिभिर्भावत. कर्म्मणा।

—ठाणाङ्ग १।४।६ टीका

(छ) ननु बन्धो जीवकर्म्मणो सयोगोऽभिप्रेत

(ज) मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभि कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मन क्षीरनीर-वद्वन्ह्यय·पिण्डवद्वान्योन्यानुगमाभेदात्मक सम्बन्धो बंध।

—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रहः वृत्यादिसमेत नवतत्त्वप्रकरणम् गाथा ७१ की प्राकृत अवचूर्णि

नियत नही है, उसमे अध्यवसायो की प्रबलता से परिवर्तन भी हो सकता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि प्राणी अशुभ कर्म का वध करके शुभ कार्य मे प्रवृत्त हो जाता है। उसका असर पूर्व बद्ध अशुभ कर्मों पर पडता है जिससे उस लम्बी कालमर्यादा और विपाक शक्ति मे न्यूनता हो जाती है। इसी प्रकार पूर्व मे श्रेष्ठ कार्य करके पश्चात् निकृष्ठ कार्य करने से पूर्वबद्ध पुण्य कर्म की स्थिति एव अनुभाग मे मन्दता आ जाती है। साराश यह है कि संसार को घटाने-बढाने का आधार पूर्वकृत कर्म की अपेक्षा वर्तमान अध्यवसायो पर विशेष आधत है।

(५) **संक्रमण**—एक प्रकार के कर्म परमाणुओ की स्थिति आदि का दूसरे प्रकार के कर्म-परमाणुओ की स्थिति आदि के रूप मे परिवर्तित हो जाने की प्रक्रिया को संक्रमण कहते है। इस प्रकार के परिवर्तन के लिए कुछ निश्चित मर्यादाएँ है, जिनका उल्लेख पूर्व किया जा चुका है। सक्रमण के चार प्रकार हैं—(१) प्रकृति-संक्रमण, (२) स्थिति-सक्रमण, (३) अनुभाव-सक्रमण, (४) प्रदेश संक्रमण।[१९२]

(५) **उदय**—कर्म का फलदान उदय है। यदि कर्म अपना फल देकर निर्जीर्ण हो जाय तो फलोदय है और फल कं. दिये विना ही नष्ट हो जाय तो प्रदेशोदय है।

(७) **उदीरणा**—नियत समय से पूर्व कर्म का उदय मे आना उदीरणा है। जैसे समय के पूर्व ही प्रयत्न से आम आदि फल पकाये जाते हैं वैसे ही साधना से आबद्ध कर्म का नियत समय से पूर्व भोग कर क्षय किया जा सकता है। सामान्यत. यह नियम है कि जिस कर्म का उदय होता है उसी के सजातीय कर्म की उदीरणा होती है।

(८) **उपशमन**—कर्मो के विद्यमान रहते हुए भी उदय मे आने के लिए उन्हे अक्षम वना देना उपशम है। अर्थात् कर्म की वह अवस्था जिसमे उदय अथवा उदीरणा संभव नही किन्तु उद्वर्तन, अपवर्तन, और सक्रमण की सभावना हो वह उपशमन है। जैसे अंगारे को राख से इस प्रकार आच्छादित कर देना जिससे वह अपना कार्य न कर

---

१९२ स्थानाङ्ग ४।।२१६

सके। वैसे ही उपशमन-क्रिया से कर्म को इस प्रकार दबा देना जिससे वह अपना फल नही दे सके। किन्तु जैसे आवरण के हटते ही अगारे जलाने लगते हैं, वैसे ही उपशम भाव के दूर होते ही उपशान्त कर्म उदय मे आकर अपना फल देना प्रारम्भ कर देते है।

(६) **निधत्ति**—जिसमे कर्मों का उदय और संक्रमण न हो सके किन्तु उद्वर्तन-अपवर्तन की सभावना हो वह निधत्ति है।[१९३] यह भी चार प्रकार[१९४] का है। (१) प्रकृति निधत्त (२) स्थिति निधत्त (३) अनुभाव निधत्त (४) प्रदेश निधत्त।

(१०) **निकाचित्त**—जिसमे उद्वर्तन,-अपवर्तन सक्रमण एव उदीरणा इन चारो अवस्थाओ का अभाव हो वह निकाचित है। अर्थात् आत्मा ने जिस रूप मे कर्म बाधा है प्राय उसी रूप मे भोगे बिना उसकी निर्जरा नही होती। वह भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, और प्रदेश रूप मे चार प्रकार का है।[१९५]

(११) **अबाधाकाल**—कर्म बंधने के पश्चात् अमुक समय तक किसी प्रकार फल न देने की अवस्था का नाम अबाध-अवस्था है। अबाधा-काल को जानने का प्रकार यह है कि जिस कर्म की स्थिति जितने-सागरोपम की है उतने ही सौ वर्ष का उसका अबाधा काल होता है। जैसे ज्ञानावरणीय की स्थिति तीन कोटाकोटि सागरोपम की है तो अबाधाकाल तीस सौ (तीन हजार) वर्ष का है। भगवती मे अष्टकर्म प्रकृतियो का अबाधा काल बताया है[१९६] और प्रज्ञापना[१९७] मे अष्टकर्म प्रकृतियो की उत्तर प्रकृतियो का भी अबाधाकाल उल्लिखित है, विशेष जिज्ञासुओ को मूल ग्रन्थ देखने चाहिए।

जैन कर्म साहित्य मे इन कर्मों की अवस्थाओ एव प्रक्रियाओ का जैसा विश्लेषण है वैसा अन्य दार्शनिको के साहित्य मे दृग्गोचर नही

---

१९३. कर्म प्रकृति गा० २

१९४. स्थानाग ४।२९६

१९५ स्थानाग ४।२९६

१९६ भगवती २।३

१९७. प्रज्ञापना २३।२।२१–२९

होता। हाँ, योग-दर्शन मे नियतविपाकी, अनियतविपाकी, और आवापगमन के रूप मे कर्म की त्रिविध दशा का उल्लेख किया है। नियतविपाकी कर्म का अर्थ है—जो नियत समय पर अपना फल प्रदान कर नष्ट हो जाता है। अनियतविपाकी कर्म का अर्थ है—जो कर्म बिना फल दिये ही आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। और आवापगमन कर्म का अर्थ है—एक कर्म का दूसरे मे मिल जाना।[१९८] योगदर्शन की इन त्रिविध अवस्थाओ की तुलना क्रमश निकाचित, प्रदेशोदय, और सक्रमण के साथ की जा सकती है।

कर्म बंधन से मुक्ति का उपाय :

भारतीय कर्म साहित्य मे जैसे कर्म बंध और उनके कारणो का विस्तार से निरूपण है उसी प्रकार उन कर्मों से मुक्त होने का साधन भी प्रतिपादित किया गया है। आत्मा नित नये कर्मो का वन्धन करता है, पुराने कर्मों को भोग कर नष्ट करता है। ऐसा कोई समय नही है जिस समय वह कर्म नही बांधता हो। तब प्रश्न हो सकता है कि वह कर्मों से मुक्त कैसे होगा? उत्तर है—तप और साधना मे। जैसे खान मे सोना और मिट्टी दोनो एकमेक होते है, किन्तु ताप आदि के द्वारा जैसे उन्हे अलग-अलग कर दिया जाता है, वैसे ही आत्मा और कर्मो को भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से पृथक् किया जाता है। जैनदर्शन ने एकान्त रूप से न्याय-वैशेषिक, साख्य, वेदान्त, महायान (बौद्ध) की तरह ज्ञान को प्रमुखता नही दी है और न एकान्त रूप से मीमासक दर्शन की तरह क्रिया-काण्ड पर ही बल दिया है। किन्तु ज्ञान और क्रिया इन दोनो के समन्वय को ही मोक्ष मार्ग माना है।[१९९] चारित्रयुक्त अल्पज्ञान भी मोक्ष का हेतु है और विराट् ज्ञान भी, यदि चारित्र रहित है तो, मोक्ष का कारण नही

---

१९८ योगदर्शन, व्यास भाष्य २।१३

१९९. सुयनाणम्मि वि जीवो, वट्टन्तो सो न पाउणइ मोक्ख।
जो तव-सजममइए, जोगे न चएइ वोढुं जे॥

—आवश्यक नियुक्ति गा० ९४

है।[२००] आचार्य भद्रबाहु के शब्दो मे चारित्रहीन श्रुतवेत्ता चन्दन का भार ढोने वाले गधे के समान है।[२०१] साराश यह है कि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष का हेतु है। जहाँ ये दोनो सम्यक् होते हैं वहाँ सम्यग् दर्शन अवश्य होता है, अत· आचार्यो ने तीनो को मोक्ष का मार्ग कहा है।[२०२] आगमो मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्ष-मार्ग रूप मे स्वीकार किया है।[२०३] किन्तु यह शाब्दिक अन्तर है, वास्तविक नही। कही पर दर्शन को ज्ञान के अन्तर्गत गिनकर ज्ञान और क्रिया को मोक्ष का कारण बताया है, और कही पर तप को चारित्र से गर्भित कर ज्ञान, दर्शन, और चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है।

बद्ध कर्मो से मुक्त होने के लिए सर्व प्रथम साधक सवर की साधना

२००　अप्पपि सुयमहीय, पगासय होइ चरणजुत्तस्स।
　　एक्कोऽवि जह पईवो, सचक्खुयस्स पयासेइ।

—आवश्यक निर्युक्ति गा० ९९

२०१　जहा खरो चन्दणभारवाही,
　　　　भारस्सभागी न हु चदणस्स।
　　एवं खु नाणी चरणेण हीणो,
　　　　नाणस्स भागी न हु सुग्गईए।

—आवश्यक निर्युक्ति गा० १००

२०२. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग·।

—तत्त्वार्थ सूत्र १।१

(ख) नाणं पयासय सोहओ तवो, सजमो य गुत्तिकरो।
　　तिण्हपि समाओगे, मोक्खो जिणसासणे भणिओ।

आवश्यक निर्युक्ति गा० १०३

२०३. नाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा।
　　एस मग्गु त्ति पन्नत्तो, जिणेहि वरदसिहि॥
　　नाण च दसणं चेव, चरित्त च तवो तहा।
　　एयमग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइ॥

—उत्तराध्ययन अ० २८ गा० २–३

से नवीन कर्मों के आगमन को रोकता है।[२०४] आचार्य श्री हेमचन्द्र के शब्दो मे—'जिस तरह चौराहे पर स्थित बहु-द्वारवाले गृह मे द्वार बंद न न होने पर निश्चय ही रज प्रविष्ट होती है और चिकनाई के योग से वही चिपक जाती है, और यदि द्वार बन्द हो तो रज प्रविष्ट नही होती और न चिपकती है, वैसे ही योगादि आस्रवो को सर्वत. अवरुद्ध कर देने पर संवृत जीव के प्रदेशो मे कर्मद्रव्य का प्रवेश नही होता।"

"जिस तरह तालाब मे सर्वद्वारो से जल का प्रवेश होता है, पर द्वारो को प्रतिरुद्ध कर देने पर थोडा भी जल प्रविष्ट नही होता, वैसे ही योगादि आस्रवो को सर्वत अवरुद्ध कर देने पर संवृत जीव के प्रदेशो मे कर्मद्रव्य का प्रवेश नही होता है।"

"जिस तरह नौका मे छिद्रो से जल प्रवेश पाता है और छिद्रो को रोक देने पर थोडा भी जल प्रविष्ट नही होता, वैसे ही योगादि आस्रवो को सर्वत अवरुद्ध कर देने पर संवृत जीव के प्रदेशो मे कर्म-द्रव्य का प्रवेश नही होता।[२०५]

---

२०४ शुभाशुभकर्मागमद्वाररूप आस्रव । आस्रवनिरोधलक्षण सवर ।
—तत्त्वार्थ० १।४ सर्वार्थ सिद्धि

२०५. यथा चतुष्पथस्थस्य, वहुद्वारस्य वेश्मन. ।
अनावृतेषु द्वारेषु, रज प्रविशति ध्रुवम् ॥
प्रविष्ट स्नेहयोगाच्च, तन्मयत्वेन वध्यते ।
न विशेन्न च वध्येत, द्वारेषु स्थगितेषु च ॥
यथा वा सरसि क्वापि, सर्वद्वारैर्विशेज्जलम् ।
तेषु तु प्रतिरुद्धेषु, प्रविशेन्न मनागपि ॥
यथा वा यानपात्रस्य, मध्ये रन्ध्रैर्विशेज्जलम् ।
कृते रन्ध्रपिधाने तु, न स्तोकमपि तद्विशेत् ॥
योगादिष्वास्रवद्वारेष्वेव रुद्धेषु सर्वत. ।
कर्मद्रव्यप्रवेशो न, जीवे सवरशालिनि ॥
—नवतत्त्व साहित्य संग्रह : श्री हेमचन्द्र सूरिकृत सप्ततत्त्व प्रकरणम् ११८–१२२

इस प्रकार साधक संवर से आगन्तुक कर्मों को रोकने के साथ-साथ निर्जरा की साधना से पूर्वसचित कर्मों को क्षय करता है।[२०६] कर्मों का एक देश से आत्मा से छूटना निर्जरा है[२०७] और जब सम्पूर्ण कर्मों को सर्वतोभावेन नष्ट कर देता है तब आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।[२०८] जब आत्मा एक बार पूर्ण रूप से कर्मों से विमुक्त हो जाता है तो फिर वह कभी कर्म बद्ध नही होता। क्योकि उस अवस्था मे कर्म बन्ध के कारणो का सर्वथा अभाव हो जाता है। जैसे बीज के जल जाने पर उससे पुन. अ कुर की उत्पत्ति नही होती वैसे ही कर्म रूपी बीज के सम्पूर्ण जल जाने पर ससार रूपी अ कुर की उत्पत्ति नही होती।[२०९] इससे स्पष्ट है कि जो आत्मा कर्मों से बधा हो, वह एक दिन उनसे मुक्त भी हो सकता है।

अपूर्व देन :

कर्मवाद का सिद्धान्त भारतीय दर्शन की और विशेष रूप से जैन दर्शन की विश्व को एक अपूर्व और अलौकिक देन है। इस सिद्धान्त ने मानव को अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति मे दीपक की लौ की तरह नही अपितु ध्रुव की तरह अटल रहने की प्रेरणा दी है। जन-जन

---

२०६. नाणेण जाणई भावे, दसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥

—उत्तरा० २८।३५

२०७. एकदेशकर्मसक्षयलक्षणा निर्जरा।

—तत्त्वार्थ १।४ सर्वार्थ सिद्धि

२०८. कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष.।

—तत्त्वार्थ० १०।३

(ख) मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव च।
अज्ञान- हृदय ग्रन्थिनाशो, मोक्ष इति स्मृत ॥

—शिवगीता१३–३२

२०९ दग्धे बाजे यथात्यन्त, प्रादुर्भवति नाङ्कुर.।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाकुर ॥

—तत्वार्थ भाष्यगत अन्तिम कारिका ८

मन मे से श्वानवृत्ति को हटाकर सिंह वृत्ति जागृत की है। कर्मवाद की महत्ता के सम्बन्ध मे एतदर्थ ही डाक्टर मेक्समूलर ने कहा है—

"यह तो निश्चित है कि कर्ममत का असर मनुष्य जीवन पर बेहद हुआ है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पडे कि वर्तमान अपराध के सिवाय भी मुझको जो कुछ भोगना पड़ता है, वह मेरे पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है, तो वह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्त भाव से उस कष्ट को सहन कर लेगा और वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहनशीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्य के लिए नीति की समृद्धि इकट्ठी की जा सकती है तो उसको भलाई के रास्ते पर चलने की प्रेरणा आप ही आप होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नही होता, यह नीतिशास्त्र का मत और पदार्थ शास्त्र का बल-सरक्षण सम्बन्धी मत समान ही है। दोनो मतो का आशय इतना ही है कि किसी का नाश नही होता। किसी भी नीतिशिक्षा के अस्तित्व के सम्बन्ध मे कितनी ही शका क्यो न हो पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्ममत सबसे अधिक जगह माना गया है। उससे लाखो मनुष्यो के कष्ट कम हुए है और उसी मत से मनुष्यो को वर्तमान सकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भविष्य जीवन को सुधारने मे उत्तेजन मिला है।"[२१०]

जो सत्य के अन्वेषी सुधी और धैर्यवान् पाठक है उन्हे यह सत्य-तथ्य अनुभव हुए विना नही रहेगा कि भारतीय दर्शन का कर्मवाद सिद्धान्त अद्भुत अनन्य और अपराजेय है। इस वैज्ञानिक युग मे भी यह एक चिरन्तन ज्योति के रूप मे मानव मात्र के पथ को आलोकित कर सकता है।

---

२१० दर्शन और चिन्तन, द्वि० खण्ड पृ० २१६।

चार | स्याद्वाद

स्याद्वाद क्या है ?

दार्शनिक जगत् को जैन दर्शन ने जो मौलिक एव असाधारण देन दी है, उसमे अनेकान्तवाद का सिद्धान्त सर्वोपरि है । अनेकान्तवाद जैन परम्परा की एक विलक्षण सूझ है, जो वास्तविक सत्य का साक्षात्कार करने मे सहायक है। अनेकान्त का प्रतिपादक वाद स्याद्वाद कहलाता है ।

'स्याद्वाद' पद मे दो शब्द है—स्यात् और वाद । 'स्यात्' शब्द तिडन्त पद जैसा प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव मे यह एक अव्यय है जो "कथंचित्, किसी अपेक्षा से, अमुक दृष्टि से" इस अर्थ का द्योतक है[1] । 'वाद' शब्द का अर्थ सिद्धान्त, मत या प्रतिपादन करना होता है ।

इस प्रकार स्याद्वाद पद का अर्थ हुआ—सापेक्ष-सिद्धान्त, अपेक्षावाद, कथंचित्वाद या वह सिद्धान्त जो विविध दृष्टि विन्दुओ से वस्तुतत्त्व का निरीक्षण-परीक्षण करता है ।

---

१. स्यादिति शब्दो अनेकान्तद्योती प्रतिपत्तव्यो, न पुनर्विधि विचार प्रश्नादिद्योती तथा विवक्षापायात् ।

—अष्टसहस्री पृ० २६६

सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तताद्योतकः कथञ्चिदर्थे स्याच्छब्दो निपात ।

—पञ्चास्तिकाय टीका, श्री अमृतचन्द्र

जैनाचार्यों ने स्याद्वाद को ही अपने चिन्तन का आधार बनाया है। चिन्तन की यह पद्धति हमे एकागी विचार और निश्चय से बचाकर सर्वाङ्गीण विचार के लिए प्रेरित करती है और इसका परिणाम यह होता है कि हम सत्य के प्रत्येक पहलू से परिचित हो जाते हैं। वस्तुत' समग्र सत्य को समझने के लिए स्याद्वाद दृष्टि ही एकमात्र साधन है। स्याद्वाद पद्धति को अपनाए बिना विराट् सत्य का साक्षात्कार होना सम्भव नही। जो विचारक वस्तु के अनेक धर्मो को अपनी दृष्टि से ओझल करके किसी एक ही धर्म को पकड़कर अटक जाता हैं वह सत्य को नही पा सकता।[2] इसीलिए आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—'स्यात्' शब्द सत्य का प्रतीक है।[3] और इसी कारण जैनाचार्यों का यह कथन है कि जहाँ कही स्यात् शब्द का प्रयोग न दृष्टिगोचर हो वहाँ भी उसे अनुस्यूत ही समझ लेना चाहिए।[4]

स्याद्वाद-दृष्टि विविध अपेक्षाओ से एक ही वस्तु मे नित्यता, अनित्यता, सदृशता, विसदृशता, वाच्यता, अवाच्यता, सत्ता, असत्ता आदि परस्पर विरुद्ध-से प्रतीत होने वाले धर्मों का अविरोध प्रतिपादन करके उनका सुन्दर एवं बुद्धिसगत समन्वय प्रस्तुत करती है।[5]

साधारणतया स्याद्वाद को ही अनेकान्तवाद कह दिया जाता है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि दोनो मे प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध है। अनेकान्तात्मक वस्तु को भाषा द्वारा

---

२. एयन्ते निरवेक्खे नो सिज्झइ विविहयावग दव्व।

३ स्यात्कार सत्यलाञ्छन ।

४. सोऽप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते।

—लघीयस्त्रय, श्लो० २२

५. स्यान्नाशि नित्य सदृश विरूप, वाच्य न वाच्य सदसत्तदेव।

—अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका, श्लोक २५
आचार्य हेमचन्द्र

प्रतिपादित करने वाला सिद्धान्त स्याद्वाद कहलाता है।[6] इस प्रकार स्याद्वाद श्रुत है और अनेकान्त वस्तुगत तत्त्व है।

आचार्य समन्तभद्र ने स्पष्ट किया है—स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनो ही वस्तुतत्त्व के प्रकाशक हैं। भेद इतना ही है कि केवलज्ञान वस्तु का साक्षात् ज्ञान कराता है जब कि स्याद्वाद श्रुत होने से असाक्षात् ज्ञान कराता है।[7]

समन्वय का श्रेष्ठ मार्ग

जगत् की विभिन्न दार्शनिक परम्पराओ मे जो परस्पर विरुद्ध विचार प्रस्तुत किए हैं, उनका अध्ययन करने पर जिज्ञासु को घोर निराशा होना स्वाभाविक है। उन विचरो मे एक पूर्व की ओर जाता है तो दूसरा पश्चिम की ओर। ऐसी स्थिति मे जिज्ञासु अपनी आस्था स्थिर करे तो किस पर ? किसे वास्तविक और किसे अवास्तविक स्वीकार करे ? आखिर ये दार्शनिक किसी भी विषय मे एकमत नही होते। आत्मा जैसे मूलतत्त्व के सम्बन्ध मे भी इनके दृष्टिकोणो मे आकाश-पाताल का अन्तर है। चार्वाकदर्शन आत्मतत्त्व की सत्ता को ही अस्वीकार करता है। जो दर्शन उसे स्वीकार करते है उनमे भी एकमत नही। साख्यदर्शन आत्मा को कूटस्थनित्य एवं अविकारी कहता है। उसके मन्तव्य के अनुसार आत्मा अकर्त्ता है, निर्गुण है। नैयायिक-वैशेषिको ने परिवर्तन तो माना, पर उसे गुणो तक ही सीमित रखा। मीमासक अवस्थाओ मे परिवर्तन मान कर भी द्रव्य को नित्य मानते है।[8] बुद्ध के समक्ष जब आत्मा विषयक प्रश्न उपस्थित किया गया तो उन्होने उसे अव्याकृत प्रश्न कह कर मौन धारण कर लिया।[9]

---

६ अनेकान्तात्मकार्थकथन स्याद्वाद।

—लघीयस्त्रय० ६२ अकलक

७. स्याद्वादकेवलज्ञाने वस्तुतत्त्वप्रकाशने।
भेद साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यत्तम भवेत् ॥

—आप्तमीमासा, १०५

८. अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूप नित्यम्।

९ मज्झिमनिकाय, चूल मालुक्य सुत्त ६३।

इसी प्रकार जब आत्मा के परिमाण के विषय मे विचार किया गया तो किसी ने उसे आकाश की भाँति सर्वव्यापी माना, किसी ने अणु परिमाण, किसी ने अगुष्ठ परिमाण तो किसी ने श्यामाक के बराबर कहा।

एक कहता है—चेतना भूतो से उत्पन्न होती या व्यक्त होती है। दूसरे का कथन है कि चेतना आत्मा का धर्म नही, जड प्रकृति से प्रादुर्भूत तत्त्व है। तीसरा दर्शन विधान करता है कि चेतना आत्मा का गुण तो नही है, किन्तु समवाय सबध से आत्मा मे रहती है।

इस प्रकार जब आत्मा जैसे तत्त्व के विषय मे भी ये विचारक किसी एक तथ्य पर नही टिक पाते तो अन्य पदार्थों के विषय मे क्या कहा जाय।

दर्शनो और दार्शनिको की बात जाने दीजिए और अपनी ही विचारधाराओ को जरा गहराई से देखिए। जब हमारा दृष्टिकोण अभेदप्रधान होता है तो प्रत्येक प्राणी मे चेतना की दृष्टि से समानता प्रतीत होती है, और चेतना से आगे बढकर जब सत्ता को आधार बताते है तो चेतन और अचेतन सभी विद्यमान पदार्थ सत्स्वरूप मे एकाकार भासित होने लगते हैं। इसके विपरीत, जब हमारे दृष्टि-कोण मे भेद की प्रधानता होती है तो अधिक से अधिक सदृश प्रतीत हो रहे दो पदार्थों मे भी भिन्नता प्रतीत हुए बिना नही रहती। इस प्रकार हम स्वयं अपने ही विरोधी विचारो मे खो जाते हैं और सोचने लगते हैं—सत्य अज्ञेय है, उसका पता लगना असम्भव है। इस निराशापूर्ण भावना ने ही अज्ञेयवादी दर्शन को जन्म दिया है।

अनेकान्तवाद का आलोक हमे निराशा के इस अन्धकार से बचाता है। वह हमे एक ऐसी विचारधारा की ओर ले जाता है, जहाँ सभी प्रकार के विरोधो का उपशमन हो जाता है। अनेकान्तवाद समस्त दार्शनिक समस्याओं, उलझनो और भ्रमणाओ के निवारण का समाधान प्रस्तुत करता है। अपेक्षा विशेष से पिता को पुत्र, पुत्र को भी पिता, छोटे को भी बड़ा, बडे को भी छोटा यदि कहा जा सकता है तो अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर ही। अनेकान्तवाद वह न्यायाधीश है जो परस्पर विरोधी दावेदारो का फैसला बडे ही सुन्दर

ढग से करता है और जिससे वादी और प्रतिवादी दोनो को ही न्याय मिलता है पूर्व कालीन महान् दार्शनिक समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलक हरिभद्र आदि ने अनेकान्तदृष्टि का अवलम्बन करके ही सत्त्व-असत्त्व, नित्यत्त्व अनित्यत्त्व, भेद-अभेद, द्वैत-अद्वैत, भाग्य, पुरुषार्थ आदि विरोधी वादो का तर्क सगत समन्वय किया और विचार की एक शुद्ध, व्यापक, बुद्धिसगत और निष्पक्ष दृष्टि प्रदान की। इस दृष्टि से देखने पर खडित एव एकागी वस्तु के स्थान पर हमे सर्वांगीण परिपूर्ण वस्तु दृष्टिगोचर होने लगती है। अनेकान्त दृष्टि विरोध का शमन करने वाली है, इसी कारण वह पूर्ण सत्य की ओर ले जाती है।

अनेकान्तवाद की इस विशिष्टता को हृदयगम करके ही जैन-दार्शनिको ने उसे अपने विचार का मूलाधार बनाया है। वस्तुत वह समस्त दार्शनिको का जीवन है, प्राण है। जैनाचार्यों ने अपनी समन्वयात्मक उदार भावना का परिचय देते हुए कहा है—एकान्त वस्तुगत धर्म नही, किन्तु बुद्धिगत कल्पना है। जब बुद्धि शुद्ध होती है तो एकान्त का नामनिशान नही रहता। दार्शनिको की भी समस्त दृष्टिया अनेकान्त दृष्टि मे उसी प्रकार विलीन हो जाती है जैसे विभिन्न दिशाओ से आने वाली सरिताएँ सागर मे एकाकार हो जाती है।[10]

प्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी के शब्दो मे कहा जा सकता है—'सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन से द्वेष नही कर सकता। वह एकनयात्मक दर्शनों को इस प्रकार वात्सल्य की दृष्टि से देखता है जैसे कोई पिता अपने पुत्रो को देखता है। अनेकान्त वादी न किसी को न्यून और न किसी को अधिक समझता है—उसका सबके प्रति समभाव होता है। वास्तव मे सच्चा शास्त्रज्ञ कहलाने का अधिकारी वही है जो अनेकान्तवाद का अवलम्बन लेकर समस्त दर्शनों पर समभाव रखता हो। मध्यस्थभाव रहने पर शास्त्र के एक पद

---

१०. उदधाविव सर्वसिन्धव , समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टय. ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते, अविभक्तासु सरित्स्विवोदधि ॥
—सिद्धसेन

का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा कोटि-कोटि शास्त्रो को पढ लेने पर भी कोई लाभ नही ।"[11]

हरिभद्र सूरि ने लिखा है—'आग्रहशील व्यक्ति युक्तियो को उसी जगह खीचतान करके लेजाना चाहता है जहाँ पहले से उसकी बुद्धि जमी हुई है, मगर पक्षपात से रहित मध्यस्थ पुरुष अपनी बुद्धि का निवेश वही करता है जहाँ युक्तियाँ उसे ले जाती है ।[12] अनेकान्त दर्शन यही सिखाता है कि युक्ति-सिद्ध वस्तुस्वरूप को ही शुद्ध बुद्धि से स्वीकार करना चाहिए। बुद्धि का यही वास्तविक फल है। जो एकान्त के प्रति आग्रहशील है और दूसरे सत्याश को स्वीकार करने के लिए तत्पर नही है, वह तत्त्व रूपी नवनीत नही पा सकता ।"

"गोपी नवनीत तभी पाती है जब वह मथानी की रस्सी के एक छोर को खीचती और दूसरे छोर को ढीला छोडती है। अगर वह एक ही छोर को खीचे और दूसरे को ढीला न छोडे तो नवनीत नही निकल सकता। इसी प्रकार जब एक दृष्टिकोण को गौण करके दूसरे दृष्टिकोण को प्रधान रूप से विकसित किया जाता है, तभी सत्य का अमृत हाथ लगता है।"[13] अतएव एकान्त के गंदले पोखर से दूर रहकर

---

११. यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव ।
तस्याऽनेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी ॥
तेन स्याद्वादमालम्ब्य सर्वदर्शनतुल्यताम् ।
मोक्षोद्देशा विशेषेण, य पश्यति स शास्त्रवित् ॥
माध्यस्थ्यमेव शास्त्रार्थो येन तच्चारु सिद्ध्यति ।
स एव धर्मवाद स्यादन्यद् बालिशवल्गनम् ॥
माध्यस्थसहित ह्येकपदज्ञानमपि प्रमा ।
शास्त्रकोटिवृथैवान्या तथा चोक्तं महात्मना ॥

—ज्ञानसार उपाध्याय यशोविजय

१२. आग्रही वत निनीषति युक्ति,
यत्र तत्र मतिरस्य निविष्टा ।
पक्षपातरहितस्य तु युक्ति,
यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥

अनेकान्त के शीतल स्वच्छ सरोवर मे अवगाहन करना ही उचित है।

स्याद्वाद का उदार दृष्टिकोण अपनाने से समस्त दर्शनो का सहज ही समन्वय साधा जा सकता है।

अन्य दर्शनो पर अनेकान्त की छाप :

अनेकान्तवाद सत्य का पर्यायवाची दर्शन है। यद्यपि कतिपय भारतीय दार्शनिको ने अपनी एकान्त विचारधारा का समर्थन करते हुए अनेकान्तवाद का विरोध भी किया है, मगर यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि सभी भारतीय दर्शनो पर उसकी छाप न्यूनाधिक रूप मे अंकित हुई है। असल मे यह इतना तर्कयुक्त और बुद्धिसगत सिद्धान्त है कि इसकी सर्वथा उपेक्षा की ही नही जा सकती।

ईशावास्योपनिषद् मे आत्मा के सम्बन्ध मे कहा गया है—'तदेजति, तन्नैजति, तद् दूरे, तदन्तिके, तदन्तरस्यसर्वस्य, तद् सर्वस्यास्य बाह्यतः।' अर्थात् आत्मा चलती भी है और नही भी चलती है, दूर भी है, समीप भी है, वह सब के अन्तर्गत भी है, बाहर भी है।

क्या ये उद्गार स्याद्वाद से प्रभावित नही है? भले ही शकराचार्य और रामानुजाचार्य एक वस्तु मे अनेक धर्मो का अस्तित्व असम्भव कहकर स्याद्वाद का विरोध करते हैं, मगर जब वे अपने मन्तव्य का निरूपण करने चलते हैं तब स्याद्वाद के असर से वे भी नही बच पाते। उन्हे भी अनन्यगत्या स्याद्वाद का आधार लेना पडता है। ब्रह्म के पर और साथ ही अपर रूप की कल्पना मे अनेकान्त का प्रभाव स्पष्ट है। उन्होने सत्य की परमार्थसत्य, व्यवहारसत्य और प्रतिभाससत्य के रूप मे जो व्याख्या प्रस्तुत की है, उससे अनेकान्त की पुष्टि ही होती है। वे कहते हैं—'दृष्ट किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोष न निर्गुणम्।' अर्थात् इस लोक मे दिखाई देने वाली कोई भी वस्तु न निर्दोष है और न निर्गुण है।

---

१३. एकेनाकर्पन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

आशय यह हुआ कि प्रत्येक वस्तु मे किसी अपेक्षा से दोष हैं तो किसी अपेक्षा से गुण भी है। यह अपेक्षावाद, अनेकान्तवाद का रूप नही तो क्या है ?

स्वामी दयानन्द सरस्वती से पूछा गया—'आप विद्वान् हैं या अविद्वान् ?' स्वामी जी ने कहा—'दार्शनिक क्षेत्र मे विद्वान् और व्यापारिक क्षेत्र मे अविद्वान्।' यह अनेकान्तवाद नही तो क्या है ?

बुद्ध का विभज्यवाद एक प्रकार का अनेकान्तवाद है। उनका मध्यममार्ग भी अनेकान्त से प्रतिफलित होने वाला वाद ही है।

साख्य एक ही प्रकृति को सतोगुण, रजोगुण और तमोगुणमयी मानकर अनेकान्त को ही अगीकार करते है।

पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो आदि ने समस्त विश्ववर्ती पदार्थो को सत् और असत् इन दो मे समाविष्ट करके समन्वय की महत्ता बतलाते हुए जगत् की विविधता सिद्ध की है।

आइन्स्टीन का सापेक्षसिद्धान्त स्याद्वाद की विचारधारा का अनुसरण करता है।

इन कतिपय उदाहरणो से पाठक समझ सकेंगे कि अनेकान्तवाद एक ऐसा व्यापक दृष्टिकोण है कि दार्शनिक जगत् मे उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। किसी न किसी रूप मे प्रत्येक दर्शन को उसका आश्रय लेना ही पडता है।

सामान्य रूप से अनेकान्त के सम्बन्ध मे इतना ही जान लेने के पश्चात् अब हमे अनेकान्त के प्रकाश मे प्रतिफलित होने वाले कतिपय मुख्यवादो का विचार भी कर लेना चाहिए। वे वाद इस प्रकार है।

नित्यानित्यता—

अनेकान्तवादी दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक वस्तु नित्यानित्य है। द्रव्य और पर्याय का सम्मिलित रूप वस्तु है, या यो कहा जा सकता है कि द्रव्य और पर्याय मिलकर ही वस्तु कहलाते हैं। पर्यायो के अभाव मे द्रव्य का और द्रव्य के अभाव मे पर्याय का कोई अस्तित्व सम्भव नही है। जहां जीवद्रव्य है वहां उसके

कोई न कोई पर्याय भी अवश्य होते है। जो जीव है वह मनुष्य, पशु, पक्षी, स्थावर अथवा सिद्ध मे से कुछ अवश्य होगा और जो मनुष्य आदि किसी पर्याय के रूप मे दृष्टिगोचर होता है वह जीव अवश्य होता है।

द्रव्य नित्य और पर्याय अनित्य है, क्योकि जीव द्रव्य का कभी विनाश नही हो सकता, मगर पर्यायो का परिवर्त्तन सदैव होता रहता है। इस दृष्टि मे ध्यान देने योग्य बात यह है कि इससे शाश्वतवाद और उच्छेदवाद—दोनो का समन्वय हो जाता है। प्रत्येक द्रव्य शाश्वत है किन्तु उसके पर्यायो का उच्छेद होता रहता है। यहाँ यह नही भूलना चाहिए कि द्रव्य और उसके पर्याय पृथक्-पृथक् दो वस्तुएँ नही हैं। उनमे वस्तुगत कोई भेद नही है, केवल विवक्षाभेद है। अनेकान्तदर्शन के अनुसार प्रत्येक सत् पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, अर्थात् पर्याय से उत्पन्न और विनष्ट होता हुआ भी द्रव्य से ध्रुव है। कोई भी वस्तु इसका अपवाद नही है।[१४]

जब कभी कोई पूर्व परिचित व्यक्ति हमारे समक्ष उपस्थित होता है तब हम कहते हैं 'यह वही है।' वर्षा होते ही भूमि शस्यश्यामला हो जाती है, तब हम कहते हैं—हरियाली उत्पन्न हो गई। हमारे हाथ मे कपूर है यह देखते-ही-देखते उड जाता है, तब हम कहते हैं वह नष्ट हो गया। 'यह वही है'—यह नित्यता का सिद्धान्त है। 'हरियाली उत्पन्न हो गई—यह उत्पत्ति का सिद्धान्त है और वह नष्ट हो गया—यह विनाश का सिद्धान्त है।

द्रव्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे परिणामवाद, आरम्भवाद और समूहवाद आदि अनेक विचार है। उसके विनाश के सम्बन्ध मे भी रूपान्तरवाद, विच्छेदवाद आदि अनेक अभिमत हैं। साख्यदर्शन परिणामवादी है, वह कार्य को अपने कारण मे सत् मानता है। सत् कर्मवाद के अभिमतानुसार जो असत् है उसकी उत्पत्ति नही होती और जो सत् है उसका विनाश नही होता, किन्तु केवल रूपान्तर

---

१४. सद् द्रव्य लक्षणम्। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्।

—तत्त्वार्थ सूत्र अ० ५

होता है । उत्पत्ति का तात्पर्य है—सत् की अभिव्यक्ति और विनाश का तात्पर्य है—सत् की अव्यक्ति । न्याय-वैशेषिक दर्शन आरम्भवादी है। वह कार्य को अपने कारण मे सत् नही मानता। असत् कार्यवाद के मतानुसार असत् की उत्पत्ति होती है और सत् का विनाश होता है। एतदर्थ ही नैयायिक ईश्वर को कूटस्थ नित्य और दीपक को सर्वथा अनित्य मानते हैं। बौद्धदर्शन के अनुसार स्थूल द्रव्य सूक्ष्म अवयवो का समूह है, तथा द्रव्य क्षणविनश्वर है। उनके विचारानुसार कुछ भी स्थिति नही है। जो दर्शन एकान्त नित्यवाद को मानते हैं वे भी जो हमारे प्रत्यक्ष है उस परिवर्तन की उपेक्षा नही कर सकते। और जो दर्शन एकान्त अनित्यवाद को मानते है वे भी जो हमारे प्रत्यक्ष है उस स्थिति की उपेक्षा नही कर सकते। एतदर्थ ही नैयायिको ने दृश्य वस्तुओ को अनित्य मानकर उनके परिवर्तन की विवक्षा की और बौद्धो ने सन्तति मानकर उनके प्रवाह की विवेचना की।

आधुनिक वैज्ञानिक रूपान्तरवाद के सिद्धान्त को एक मत से स्वीकार करते हैं। जैसे एक मोमबत्ती है, जलाने पर कुछ ही क्षणो मे उसका पूर्ण नाश हो जाता है। प्रयोगो के द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि मोमबत्ती के नाश होने पर अन्य वस्तुओ की उत्पत्ति होती है।[१५]

इसी प्रकार पानी को एक वर्तन मे रखा जाये, और उस वर्तन मे दो छिद्र कर तथा उनमे कार्क लगाकर दो प्लेटिनम की पत्तियाँ उस पानी मे खडी कर दी जायें और प्रत्येक पत्ती पर एक काँच का ट्यूब लगा दिया जाय तथा प्लेटिनम की पत्तियो का सम्बन्ध तार से बिजली की बैटरी के साथ कर दिया जाये तो कुछ ही समय मे पानी गायब हो जायेगा। साथ ही उन प्लेटिनम की पत्तियो पर अवस्थित ट्यूबो पर ध्यान केन्द्रित किया जायेगा तो दोनो मे एक-एक तरह की गैस

१५. A text book of Inorganic Chemistry by J. R. Parting. N P. 15

१६ A text Book of Inorganic Chemistry by. G S.—Neuth, P. 237

प्राप्त होगी, जो आक्सीजन और हाइड्रोजन के नाम से पहचानी जाती है।[१६]

वैज्ञानिक अनुसन्धान के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि पुद्गल शक्ति मे और शक्ति पुद्गल मे परिवर्तित हो सकती है।[१७] सापेक्षवाद की दृष्टि से पुद्गल के स्थायित्व के नियम व शक्ति के स्थायित्व के नियम को एक ही नियम मे समाविष्ट कर देना चाहिए। उसकी संज्ञा 'पुद्गल और शक्ति के स्थायित्व का नियम' इस प्रकार कर देनी चाहिए।[१८]

स्याद्वाद की दृष्टि से सत् कभी विनष्ट नही होता और असत् की कभी उत्पत्ति नही होती[१९]। ऐसी कोई स्थिति नही जिसके साथ उत्पाद और विनाश न रहा हो अर्थात् जिनकी पृष्ठ भूमि मे स्थिति है उनका उत्पाद और विनाश अवश्य होता है।

सभी द्रव्य उभय-स्वभावी है। उनके स्वभाव की विवेचना एक ही प्रकार की नही हो सकती। असत् की उत्पत्ति नही होती और सत् का कभी नाश नही होता। इस द्रव्य नयात्मक सिद्धान्त से द्रव्यो की ही विवेचना हो सकती है, पर्यायो की नही। उनकी विवेचना—असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश होता है—इस पर्यायनयात्मक सिद्धान्त के द्वारा ही की जा सकती है। इन दोनो को एक शब्द मे परिणामी-नित्यवाद या नित्यानित्यवाद कहा जा सकता है। इसमे स्थायित्व और परिवर्तन की सापेक्ष रूप से विवेचना है। इस विश्व मे ऐसा द्रव्य नही जो सर्वथा ध्रुव हो, और ऐसा भी द्रव्य नही है जो सर्वथा परिवर्तनशील ही हो। दीपक, जो परिवर्तनशील है, वह भी स्थायी है और जीव जो स्थायी है, वह भी परिवर्तनशील है। स्थायित्व

---

१७ General Chemistry by finus Pauling P P 4-5

१८ General and Inorganic Chemistry for by P J. durrant 18.

१९. भावस्स णत्थि णासो,
णत्थि अभावस्स उप्पादो।
—पचास्तिकाय, १५

और परिवर्तनशीलता की दृष्टि से जीव और दीपक मे कोई अन्तर नही है ।[20]

केवल स्थिति ही होती तो सभी द्रव्यो का एक ही रूप रहता, उनमे किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही होता । केवल उत्पाद और व्यय ही होता तो केवल उनका क्रम होता किन्तु स्थायी आधार के अभाव मे उनका कुछ भी रूप नही होता । कर्तृत्व, कर्म और परिणामी की कोई विवेचना नही होती । स्याद्वाद की दृष्टि से परिवर्तन भी है और उसका आधार भी है । परिवर्तनरहित किसी भी प्रकार का स्थायित्व नही है । और स्थायित्व रहित किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही है । अर्थात् परिवर्तन स्थायी मे होता है और स्थायी वही हो सकता है जिसमे परिवर्तन हो । साराश यह है कि निष्क्रियता और सक्रियता, स्थिरता और गतिशीलता का जो सहज समन्वित रूप है उसे ही द्रव्य कहा गया है । अपने केन्द्र मे प्रत्येक द्रव्य ध्रुव, स्थिर और निष्क्रिय है । उसके चारो ओर परिवर्तन की एक शृङ्खला है जिसे हम परमाणु की रचना से समझ सकते हैं । विज्ञान के अनुसार अणु की रचना तीन प्रकार के कणो से मानी गई है—(१) प्रोटोन (२) इलेक्ट्रोन (३) न्यूट्रोन । घनात्मक कण प्रोटोन है । परमाणु का वह मध्यबिन्दु होता है । ऋणात्मक कण इलेक्ट्रोन है । यह घनाणु के चारो ओर परिक्रमा करता है । उदासीन कण न्यूट्रोन है ।

आत्मा का शरीर से भेदाभेद :

आत्मा शरीर से भिन्न है अथवा अभिन्न है, इस विषय मे भी दर्शनशास्त्रो के मन्तव्य विविध प्रकार के उपलब्ध होते हैं । चार्वाक दर्शन आत्मा को शरीर से भिन्न स्वीकार नही करता । वह शरीर से ही चेतना

---

२०. आदीपमाव्योमसमस्वभाव
स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि वस्तु ।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्य—
दिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापा ॥
अन्ययोग व्यवच्छेदिका, श्लो० ५

की उत्पत्ति मानता है और शरीर का विनाश होने पर चेतना का भी विनाश हो जाना स्वीकार करता है।[२१] सूत्रकृताग सूत्र मे तज्जीव-तच्छरीरवाद का उल्लेख मिलता है। वह चार्वाक मत से किंचित् भिन्न होता हुआ भी एक ही वस्तु को जीव और शरीर के रूप मे स्वीकार करता है।[२२] अनेक दर्शन आत्मा का शरीर से एकान्त भिन्नत्व स्वीकार करते हैं। इस समस्या को सुलझाते हुए भगवान् महावीर ने कहा—आत्मा कथचित् शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न भी है।[२३] आत्मा को शरीर से भिन्न तत्त्व न माना जाय और दोनो का एकत्व स्वीकार किया जाय तो शरीर के नाश के साथ आत्मा का भी नाश मानना होगा और उस स्थिति मे पुनर्जन्म एव मुक्ति की कल्पना निराधार हो जायगी। किन्तु युक्ति और आगम आदि प्रमाणो से पुनर्जन्म आदि की सिद्धि होती है, अत आत्मा को शरीर से पृथक् मानना ही समीचीन है। साथ ही, अनादि काल से आत्मा शरीर के साथ ही रहा हुआ है और कृत कर्मो का फलोपभोग शरीर के द्वारा ही होता है। शरीर पर प्रहार होता है तो दु ख की अनुभूति आत्मा को होती है। देवदत्त पर प्रहार किया जाय तो जिनदत्त को दु खानुभव नही होता, क्योकि देवदत्त के शरीर से जिनदत्त की आत्मा भिन्न है। इसी प्रकार यदि देवदत्त की आत्मा देवदत्त के शरीर से भी सर्वथा भिन्न हो तो उसे भी दु ख का अनुभव नही होना चाहिये। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जैसे देवदत्त के शरीर और जिनदत्त की आत्मा मे भेद है, वैसा भेद देवदत्त के शरीर और देवदत्त की आत्मा मे नही है। यही देह और आत्मा का अभेद है।

---

२१. भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ?

२२. पत्तेय कसिणे आया, जे वाला जे अ पडिया।
सन्ति पिच्चा न ते सन्ति, नत्थि सत्तोववाइया॥

—सूत्रकृताग, १।१।११

२३ आया भन्ते ! काये, अन्ने काये ? गोयमा ! आया वि काये, अन्ने वि काये।

सत्ता और असत्ता

जब यह निश्चित हो जाता है कि वस्तुतत्त्व सापेक्ष है और स्याद्वादपद्धति से ही उसका ठीक प्रतिपादन हो सकता है, तो वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व के विषय मे भी हमे अनेकान्त को लागू करके देखना होगा। जैन दार्शनिको ने बडी ही खूबी के साथ इस विषय पर ऊहापोह किया है और स्वचतुष्टय और परचतुष्टय के द्वारा अस्तित्व-नास्तित्व की समस्या का समाधान खोजा है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, ये चारो चतुष्टय कहलाते हैं। प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्ववान् है और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप है।[२४]

उदाहरण के लिए एक स्वर्णघट को लीजिए। वह स्वर्ण का बना है, यह स्वद्रव्य की अपेक्षा अस्तित्व है। वह जिस क्षेत्र अर्थात् स्थान मे रक्खा है, उस क्षेत्र की अपेक्षा से है। जिस काल मे उसकी सत्ता है, उस काल की अपेक्षा से है। उसमे जो पीतवर्ण आदि अनेक पर्याय विद्यमान है, उनकी अपेक्षा से है। किन्तु वही घट मृत्तिकाद्रव्य की अपेक्षा से नही है। अन्य क्षेत्र की अपेक्षा से भी नही है। कालान्तर की अपेक्षा से भी नही है। कृष्णवर्ण आदि पर्यायो से भी उसमे अस्तित्व नही है। इसी प्रकार स्वर्णघट सोने का है, मृत्तिका आदि का नही है। अमुक क्षेत्र मे है अन्य क्षेत्र मे नही है। जिस काल मे है उसके अतिरिक्त अन्य काल की अपेक्षा से नही है। वह अपने स्वपर्यायो से है, पर पर्यायो से नही है. इस प्रकार स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा उसमे अस्तित्व और नास्तित्व सहज ही घटित होते हैं।

कई लोग अस्तित्व और नास्तित्व को विरोधी धर्म समझ कर एक ही वस्तु मे दोनो का समन्वय असभव मानते है। मगर वे भूल जाते है कि एक ही अपेक्षा से यदि अस्तित्व और नास्तित्व का विधान किया जाय तभी उनमे विरोध होता है, विभिन्न अपेक्षाओ से विधान

---

२४. सदेव सर्व को नेच्छेत्, स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ।।
—आप्तमीमासा, श्लोक १५

करने मे कोई विरोध नही होता। किसी व्यक्ति के सम्बन्ध मे यह कहना कि यह मनुष्य है, मनुष्येतर नही है, भारतीय है, पाश्चात्य नहीं है, वर्त्तमान मे है, सदा से या सदा रहने वाला नही है, विद्वान् है मूर्ख नही है, तो क्या हम उस व्यक्ति के विषय मे परस्परविरुद्ध विधान करते हैं? नही। यह विधान न केवल तर्कसगत है, अपितु व्यवहारसंगत भी है। हम प्रतिदिन इसी प्रकार व्यवहार करते हैं। ऐसा व्यवहार किए विना किसी वस्तु का निश्चय हो भी नही सकता। 'यह पुस्तक है' ऐसा निश्चय तो तभी संभव है, जब हम यह जान ले कि यह पुस्तक के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है।

इन उदाहरणो से प्रत्येक पदार्थ सत् और असत् किस प्रकार है, यह समझ मे आ जाता है। मगर जैनाचार्यों ने इस विचार को सुस्पष्ट करने के लिए सप्तभगी का विधान किया है, जिससे वस्तु मे प्रत्येक धर्म की सगति एकदम निर्विवाद हो जाती है।

सप्तभंगी :

प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। उन अनन्त धर्मों मे से प्रत्येक धर्म की ठीक-ठीक सगति बिठलाने के लिए विधि, निषेध आदि की विवक्षा से सात भग होते है। यही सप्तभगी है।[२५] ये सात भग प्रत्येक धर्म पर घटित किए जा सकते हैं, किन्तु उदाहरण के रूप मे सत्ता-धर्म को लेकर यहाँ उनका उल्लेख किया जाता है। वे निम्न लिखित है—

(१) स्यादस्ति—स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व है।

(२) स्यान्नास्ति—परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से प्रत्येक वस्तु नही है।

(३) स्यादस्ति-नास्ति—स्वकीय तथा परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से वस्तु है और नही है।

---

२५. सप्तभि प्रकारैर्वचन-विन्यास सप्तभङ्गीतिगीयते।

—स्याद्वाद मजरी, का० २३ टीका

(४) स्यादवक्तव्य—युगपद् कथन की अपेक्षा से वस्तु अनिर्वचनीय है, अर्थात् सत्ता और असत्ता को एक साथ कहा नही जा सकता।

(५) स्यादस्ति-अवक्तव्य– वस्तु स्वचतुष्टय से सत् होने पर भी, एक साथ स्व-पर चतुष्टय की अपेक्षा से अवक्तव्य है।

(६) स्यान्नास्ति-अवक्तव्य—पर चतुष्टय से असत् होते हुए भी एक साथ स्व-पर चतुष्टय से अवक्तव्य है।

(७) स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य– स्वचतुष्टय मे सत्, पर चतुष्टय से असत् होते हुए भी एक साथ स्व-पर चतुष्टय से अनिर्वचनीय है।

इसी प्रकार नित्यत्व, एकत्व आदि सभी धर्मों के विषय मे यह सप्तभगी लागू होती है। यह सात भग वस्तुत प्रथम और द्वितीय भग के ही व्यापक स्वरूप है।

पाठक समझ सकेंगे कि स्याद्वाद सिद्धान्त मे वस्तुस्वरूप की विवेचना सापेक्ष दृष्टि से की गई है। उक्त सातो भगो का आधार काल्पनिक नही वरन् वस्तु का विराट् और विविधरूप स्वरूप ही है। स्याद्वाद सिद्धान्त की चमत्कारिक शक्ति और व्यापक प्रभाव को हृदयंगम करके डॉ० हर्मन जैकोबी ने कहा था—'स्याद्वाद से सब सत्य-विचारो का द्वार खुल जाता है।'

अभी हाल मे ही मे अमेरिका के विश्रुत दार्शनिक प्रोफेसर आर्चि० जे० वह्न ने स्याद्वाद का अध्ययन करके जैनो को ये प्रेरणाप्रद शब्द कहे है—विश्वशान्ति की स्थापना के लिए जैनो को अहिंसा की अपेक्षा स्याद्वाद सिद्धान्त का अत्यधिक प्रचार करना उचित है। महात्मा गाँधी को भी यह सिद्धान्त बडा प्रिय था और आचार्य विनोबा जैसे शान्तिप्रसारक सन्त इसके महत्त्व को मुक्त कठ से स्वीकार करते है।

भ्रम निवारण

सप्तभंगी सिद्धान्त के विषय मे कतिपय पाश्चात्य और कुछ भारतीय विद्वानो की जो गलत धारणा है, उसका उल्लेख यहाँ कर देना अनुचित न होगा।

प्राचीन जैन आगमो मे सप्तभगी बीज रूप मे उपलब्ध होती है।[२६] आचार्य कुन्दकुन्द ने कुछ ही भगो का उल्लेख किया है।[२७] किन्तु इनके पश्चाद्वर्त्ती आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलक, विद्यानन्द, हेमचन्द्र, वादिदेव आदि ने उसका स्पष्ट और विस्तृत विवेचन किया है। इस प्रतिपादन क्रम को कुछ विद्वानो ने स्याद्वाद या सप्तभंगी का विकासक्रम समझ लिया है किन्तु तथ्य यह है कि जैन तत्त्वज्ञान सर्वज्ञमूलक है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थङ्करो के ज्ञान मे जो तत्त्व प्रतिभासित होता है, उसी को उनके प्रधान शिष्य शब्दबद्ध करते है[२८] और फिर उनके शिष्य प्रशिष्य उसके एक-एक अग का आधार लेकर युग की परिस्थिति के अनुसार विभिन्न ग्रन्थो की रचना करते है। इस प्रकार तत्त्वविवेचन का क्रम आगे बढता है। इस विवेचनक्रम को तत्त्व का विकासक्रम समझ लेना युक्तिसंगत नही है।

इस युग मे प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव हुए है। उन्होने जो उपदेश किया वही उनके पश्चात् होने वाले तेईस तीर्थङ्करो ने किया। वही उपदेश कालक्रम से उनके अनुयायी विभिन्न आचार्यों द्वारा जैन साहित्य मे लिपिबद्ध किया गया है। किसी भी विषय का सक्षिप्त या विस्तृत विवेचन उसके लेखक की संक्षेपरुचि अथवा विस्तार रुचि पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त युग की विचारधारा भी उसे प्रभावित करती है। खासतौर से दार्शनिक साहित्य मे ऐसा भी होता है कि कोई लेखक जब किसी विषय के ग्रन्थ की रचना करता है तो अपने समय तक के विरोधी विचारो का उसमे उल्लेख करता है

---

२६. जीवा ण भते ! किं सासया, असासया ?
गोयमा ! जीवा सिय सासया, सिय असासया। दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया।

—भगवती, ७।२।७७३

२७. सिय अत्थि णत्थि उहय—

—पंचास्तिकाय, प्रवचनसार

२८. अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गु थति गणहरा निउणं।

—भद्रबाहु।

और अपने दृष्टिकोण के अनुसार उनका निराकरण भी करता है। जैन दार्शनिक साहित्य मे भी यह प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इस प्रतिपादन क्रम को अगर कोई मूल तत्त्व का विकासक्रम समझ बैठे तो यह उसकी भूल ही कही जाएगी।

अमरीकी विद्वान आर्चि० जे० बह्न इसी भूल के शिकार हुए हैं। उन्होने स्याद्वाद के निरूपणक्रम को स्याद्वाद का विकासक्रम समझ लिया है। एक भूल अनेक भूलो की सृष्टि कर देती है। जब उन्होने स्याद्वाद के क्रमविकास की भ्रान्त कल्पना की तो दूसरी भूल यह हो गई कि वे सप्तभंगी को बौद्धो के चतुष्कोटिनिषेध का अनुकरण अथवा विकास समझने लगे, यद्यपि उन दोनो मे बहुत अधिक अन्तर है।

सर्वप्रथम हमे इतिहास द्वारा निर्णीत इस तथ्य को ध्यान मे रखना चाहिए कि जैनधर्म, बौद्धधर्म से बहुत प्राचीन है।[२९] महात्मा बुद्ध से पहले तेईस तीर्थंकर हो चुके थे। तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ उनसे लगभग २५० वर्ष पूर्व हुए थे। उन्होने स्याद्वाद सिद्धान्त का निरूपण किया था। सजय वेलट्ठिपुत्त, जो बुद्ध के पूर्ववर्ती हैं, उन्होने स्याद्वाद को ठीक तरह न समझ कर सशयवाद की प्ररूपणा की थी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्याद्वाद सिद्धान्त का बुद्ध से पहले ही अस्तित्व था। ऐसी स्थिति मे यह समझना कि सप्तभगी सिद्धान्त बौद्धो के चतुष्कोटिप्रतिषेध का विकसित रूपान्तर है, सर्वथा निराधार है। चतुष्कोटिप्रतिषेध का सिद्धान्त तो बुद्ध के भी बाद मे प्रचलित हुआ है। इसके अतिरिक्त सप्तभगी और चतुष्कोटिप्रतिषेध के आशय मे भी बहुत अन्तर है। बौद्धो का चतुष्कोटि-प्रतिषेध यो है—

१—वस्तु है, ऐसा नही है।
२—वस्तु नही है, ऐसा भी नही है।
३—वस्तु है और नही है, ऐसा भी नही है।

---

२९. देखिए, डा० हर्मन जैकोबी द्वारा लिखित जैन सूत्राज की भूमिका।

४—वस्तु है और नही है, ऐसा नही है, यह भी नही है।[30]

सप्तभगी के स्वरूप का उल्लेख पहले किया जा चुका है। सप्तभंगी मे और प्रस्तुत चतुष्कोटि प्रतिषेध मे वस्तुत. कोई समानता नही है। सप्तभंगी मे वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व आदि का प्रतिपादन है, जब कि इस प्रतिषेध मे अस्तित्व को कोई स्थान नही है, केवल नास्तित्व का ही निरूपण पाया जाता है। सप्तभगी मे जो अस्तित्व और नास्तित्व का विधान है, वह स्वचतुष्टय और परचतुष्टय के आधार पर है और क्षण-क्षण मे होने वाला हमारा अनुभव उसका समर्थन करता है। सप्तभगी के अनुसार मनुष्य मनुष्य है, पशु-पक्षी आदि मनुष्येतर नही है। किन्तु चतुष्कोटि प्रतिषेध का कहना है कि कि मनुष्य मनुष्य नही है, मनुष्येतर भी नही है, उभय रूप भी नही है, अनुभय रूप भी नही है। वह कुछ भी नही है और वह कुछ भी नही है, ऐसा भी नही है। इस प्रकार यहाँ न कोई अपेक्षाभेद है और न अस्तित्व का कोई स्थान ही है।

सप्तभगी मे पदार्थो के अस्तित्व से इन्कार नही किया गया है, सिर्फ उसके स्वरूप की नियतता प्रदर्शित करने के लिए यह दिखलाया गया है कि वह पर-रूप मे नही है। सप्तभगीवाद हमे सतरगी पुष्पो से सुशोभित विचारवाटिका मे विहार कराता है, तो बौद्धो का निषेधवाद पदार्थो के अस्तित्व को अस्वीकार कर के शून्य के घोर एकान्त अन्धकार मे ले जाता है। अनुभव उसको कोई आधार प्रदान नही करता है। अतएव यह स्पष्ट है कि सप्तभगी का बौद्धो के चतुष्कोटिनिषेध के साथ लेशमात्र भी सरोकार नही है।

स्याद्वाद संशयवाद नहीं :

जैनदर्शन की यह मान्यता है कि प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है।[31] अनन्त धर्मात्मकता के बिना किसी पदार्थ के अस्तित्व की कल्पना

---

३०. नासन्नसन्न सदसन्न नाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्त, तत्त्व माध्यमिका विदु ॥

३१. अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्व,
अतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम्।
—अन्ययोग व्यवच्छेद द्वा०, त्रिशिका

ही सम्भव नही है। किन्तु एक साथ अनन्त धर्मो का निर्वचन नही हो सकता। दूसरे धर्मों का विधान और निषेध न करते हुए किसी एक धर्म का विधान करना ही स्याद्वाद है। अनेकान्त वाच्य और स्याद्वाद वाचक है। अमुक अपेक्षा से घट सत् ही है और अमुक अपेक्षा से घट असत् ही है, यह स्याद्वाद है। इसमे यह प्रदर्शित किया गया है कि स्वचतुष्टय से घट की सत्ता निश्चित है और परचतुष्टय से घट की असत्ता निश्चित है। इस कथन में सशय को कोई स्थान नहीं है। किन्तु 'स्यात्' शब्द के प्रयोग को देखकर, स्याद्वाद की गहराई में न उतरने वाले कुछ लोग, यह भ्रमपूर्ण धारणा बना लेत हैं कि स्याद्वाद अनिश्चय की प्ररूपणा करता है।

वस्तुत· 'स्यात्' शब्द का अर्थ न 'शायद' है, न 'सम्भवत' है और न 'कदाचित्' जैसा ही है। वह तो एक सुनिश्चित सापेक्ष दृष्टिकोण का द्योतक है। प्रो० बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—'अनेकान्तवाद सशयवाद नही है।' परन्तु वे उसे 'सम्भवत' अर्थ मे प्रयुक्त करना चाहते है, मगर यह भी सगत नही है।

शकराचार्य ने अपने भाष्य मे स्याद्वाद को सशयवाद कहकर जो भ्रान्त धारणा उत्पन्न की थी, उसकी परम्परा अब भी बहुत अशो मे चल रही है। किन्तु प्रोफेसर फणिभूषण अधिकारी ने आचार्य शकर की धारणा के सम्बन्ध में लिखा है—"जैनधर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है, उतना अन्य किसी भी सिद्धान्त को नही। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नही है। उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय ही किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषो के लिए क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मै भारत के इस महान् विद्वान् के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होने इस धर्म के दर्शनशास्त्र के मूल ग्रन्थो के अध्ययन की परवाह नही की।"

स्पष्ट है कि स्याद्वाद संशयवाद नही है। सभी दर्शन किसी न किसी रूप में इसे स्वीकार करते हुए भी इसका नाम लेने में हिचकते है।

पाश्चात्य विद्वान् थामस का यह कथन ठीक ही है कि—"स्याद्वाद सिद्धान्त बडा गम्भीर है। यह वस्तु की भिन्न-भिन्न स्थितियो पर अच्छा प्रकाश डालता है। स्याद्वाद का अमर सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में बहुत ऊँचा सिद्धान्त माना गया है। वस्तुत. स्याद्वाद सत्य ज्ञान की कुञ्जी है। दार्शनिक क्षेत्र मे स्याद्वाद को सम्राट् का रूप दिया गया है। स्यात् शब्द को एक प्रहरी के रूप मे स्वीकार करना चाहिए, जो उच्चारित धर्म को इधर-उधर नही जाने देता है। यह अविवक्षित धर्मों का संरक्षक है, संशयादि शत्रुओ का सरोधक व भिन्न दार्शनिको का संपोपक है।

जिन दार्शनिको की भाषा स्याद्वादानुगत है, उन्हे कोई भी दर्शन भ्रमजाल के चक्र मे नही फँसा सकता।

एकबार भगवान् महावीर के समक्ष प्रश्न उपस्थित हुआ, साधु को किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करना चाहिए ? उत्तर मे भगवान् ने कहा—साधु को विभज्यवाद[32] का प्रयोग करना चाहिए। टीकाकार ने विभज्यवाद का अर्थ स्याद्वाद किया है। क्या संशयात्मक वाणी का प्रयोग करके कोई दर्शन जीवित रह सकता है ?

विरोध का निराकरण

शंकराचार्य ने अपने शाकरभाष्य मे स्याद्वाद के निरसन का प्रयत्न करते हुए यह भी कहा है—शीत और उष्ण की तरह एक धर्मी मे परस्पर विरोधी सत्त्व और असत्त्व आदि धर्मों का एक साथ समावेश नही हो सकता।[33] किन्तु स्याद्वाद के स्वरूप को जिसने समझ लिया है, उसके समक्ष यह आरोप हास्यास्पद ही ठहरता है। आचार्य से यदि प्रश्न किया गया होता—'आप कौन हैं ?' तो वे

---

३२. भिक्खू विभज्जवाय च वियागरेज्जा।

—सूत्रकृतांग, १।१४।२२

३३. न हि एकस्मिन् धर्मिणि युगपत् सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेश सम्भवति शीतोष्णवत्।

—शाकरभाष्य.

उत्तर देते—'मैं सन्यासी हूँ।' पुन प्रश्न किया जाता—'आप गृहस्थ हैं या नही ?' तो वे कहते – 'मैं गृहस्थ नही हूँ।' अब तीसरा प्रश्न उनसे यह किया जाता—आप 'हूँ' भी और 'नही हूँ' भी कहते हैं, इस परस्पर विरोधी कथन का क्या आधार है ? तब आचार्य को अनन्यगत्या यही कहना पडता – सन्यासाश्रम की अपेक्षा हूँ, गृहस्थाश्रम की अपेक्षा नही हूँ, इस प्रकार अपेक्षाभेद के कारण मेरे उत्तरो मे विरोध नही है।

बस, यही उत्तर स्याद्वाद है। सत्त्व और असत्त्व धर्म यदि एक ही अपेक्षा से स्वीकार किये जाएँ तो परस्पर विरोधी होते हैं, किन्तु स्वरूप से सत्त्व और पररूप से असत्त्व स्वीकार करने मे किसी प्रकार का विरोध नही है, जैसे—मैं सन्यासी हूँ और सन्यासी नही हूँ, यह कहना विरुद्ध है, किन्तु मैं सन्यासी हूँ, गृहस्थ नही हूँ, ऐसा कहने मे कोई विरोध नही है।

नयवाद :

नयवाद को स्याद्वाद का एक स्तम्भ कहना चाहिए। स्याद्वाद जिन विभिन्न दृष्टिकोणो का अभिव्यजक है, वे दृष्टिकोण जैन परिभाषा मे नय के नाम से अभिहित होते है। पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। वस्तु के उन अनन्त धर्मों मे से किसी एक धर्म का बोधक अभिप्राय या ज्ञान नय है।

प्रमाण वस्तु के अनेक धर्मों का ग्राहक होता है और नय एक धर्म का[34]। किन्तु एक धर्म को ग्रहण करता हुआ भी नय दूसरे धर्मों का न निषेध करता है और न विधान ही करता है। निषेध करने पर वह दुर्नय हो जाता है।[35] विधान करने पर प्रमाण की कोटि मे परिगणित हो जाता है। नय, प्रमाण और अप्रमाण दोनो से भिन्न प्रमाण का एक अश है, जैसे समुद्र का अश न समुद्र है, न असमुद्र है,

---

३४ अर्थस्यानेकरूपस्य धी प्रमाण तदशधी।
नयो धर्मान्तरापेक्षी, दुर्नयस्तन्निराकृति ॥

३५ स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापी पुनर्नयाभास।

—प्रमाणनयतत्त्वालोक, वादिदेव।

वरन् समुद्रांश है।[३६] नय का ग्राह्य भी वस्त्वश ही होता है। विश्व के सभी एकान्तवादी दर्शन एक ही नय को अपने विचार का आधार बनाते हैं। उनका दृष्टिकोण एकागी होता है। वे भूल जाते हैं कि दूसरे दृष्टिकोण से विरोधी प्रतीत होने वाला विचार भी सगत हो सकता है। इसी कारण वे एकागी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं और वस्तु के समग्र स्वरूप को स्पर्श नही कर पाते। वे सम्पूर्ण सत्य के ज्ञान से वचित रह जाते है। नयवाद अनेक दृष्टिकोणो से वस्तु को निरखने परखने की कला सिखलाता है।

बौद्धदर्शन वस्तु के अनित्यत्व धर्म को स्वीकार करके द्रव्य की अपेक्षा पाये जाने वाले नित्यत्व धर्म का निषेध करता है। साख्यदर्शन नित्यत्व को अगीकार करके पर्याय की दृष्टि से विद्यमान अनित्यत्व धर्म का अपलाप करता है। इस प्रकार ये दोनो दर्शन अपने-अपने एकान्त पक्ष के प्रति आग्रहशील होकर एक-दूसरे को मिथ्या कहते हैं। वे नही जानते कि दूसरे को मिथ्यावादी कहने के कारण वे स्वय मिथ्यावादी बन जाते हैं। अगर उन्होने दूसरे को सच्चा माना होता तो वे स्वय सच्चे हो जाते, क्योकि वस्तु मे द्रव्यत नित्यत्व और पर्यायत· अनित्यत्व धर्म रहता है।

इस प्रकार नयवाद द्वैत-अद्वैत, निश्चय-व्यवहार, ज्ञान-क्रिया, काल-स्वभाव-नियति यदृच्छा-पुरुषार्थ आदि वादो का सुन्दर और समीचीन समन्वय करता है।

नयवाद दुराग्रह को दूर करके दृष्टि को विशालता और हृदय को को उदारता प्रदान करता है। वह वस्तु के विविध रूपो का विश्लेषण हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—"हे जिनेन्द्र ! जिस प्रकार विविध रसो द्वारा सुसस्कृत लोह स्वर्ण आदि धातु पौष्टिकता और स्वास्थ्य आदि अभीष्ट फल प्रदान करती हैं, उसी प्रकार 'स्यात्' पद से अकित आपके नय

---

३६ नासमुद्र· समुद्रो वा समुद्राशो यथैव हि।
नाय वस्तु न चावस्तु, वस्त्वशो कथ्यते बुधै·॥
—श्लोकवार्त्तिक, विद्यानन्दि,

मनोवाञ्छित फल के प्रदाता है, अतएव हितैषी आर्य पुरुष आपको नमस्कार करते है।

कहा जा चुका है कि प्रत्येक पदार्थ मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की प्रक्रिया निरन्तर चालू है। स्वर्णपिण्ड से एक कलाकार घट बनाता है। फिर उस स्वर्णघट को तोड़कर मुकुट बनाता है। यहाँ प्रथम पिण्ड के विनाश से घट की और घट के विनाश से मुकुट की उत्पत्ति होती है, मगर स्वर्णद्रव्य सब अवस्थाओ मे विद्यमान रहता है।[37] यह द्रव्य से नित्यता और पर्याय से अनित्यता है। जिसने दूध ही ग्रहण करने का नियम अंगीकार किया है वह दधि नही खाता। दधि खाने का नियम लेने वाला दूध का सेवन नही करता। किन्तु गोरस का त्याग कर देने वाला दोनो का सेवन नही करता।[38] इससे स्पष्ट है कि दुग्ध का विनाश, दधि की उत्पत्ति और गोरस की स्थिरता होने से वस्तु का पर्याय से उत्पाद-विनाश होने पर भी द्रव्य से ध्रौव्य रहता है। इस उदाहरण से वस्तु की सामान्यविशेषात्मकता भी प्रमाणित हो जाती है।

आशय यह है कि प्रत्येक वस्तु के दो मुख्य अश है—द्रव्य और पर्याय। अतएव द्रव्य को प्रधान रूप से ग्रहण करने वाला दृष्टिकोण द्रव्यार्थिक नय और पर्याय को ग्रहण करने वाला पर्यायार्थिक नय कहलाता है। यद्यपि वस्तुगत अनन्त धर्मों को ग्रहण करने वाले अभिप्राय भी अनन्त होते हैं, और इस कारण नयो की सख्या का अवधारण नही किया जा सकता,[39] तथापि उन सब का समावेश

---

३७ घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्य, जनो याति सहेतुकम् ॥
—आचार्य समन्तभद्र,

३८ पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रत ।
अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्व त्रयात्मकम् ॥
—आचार्य समन्तभद्र,

३९ जावइया वयणपहा, तावइया चेव हु ति नयवाया।
— सन्मतितर्क, आचार्य सिद्धसेन

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दो नयो मे ही हो जाता है। जिस दृष्टिकोण मे द्रव्य की प्रधानता हो वह द्रव्यार्थिक नय कहलाता है और जिसमे पर्याय की मुख्यता हो वह पर्यायार्थिक नय है।[४०] जैन साहित्य मे नयविषयक अनेक ग्रन्थो का निर्माण हुआ है। अधिक जानकारी के लिए पाठको को उन ग्रन्थो का अवलोकन करना चाहिए। विस्तार-भय से यहा अधिक नही लिखा गया है।

४०. व्यासतोऽनेकविकल्प । समासतस्तु द्विभेदो द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च।
—प्रमाणनयतत्त्वालोक प्र० ७।४।५

पाँच | धर्म का मूल : सम्यग्दर्शन

धर्म का मूल क्या है ? यह एक गम्भीर प्रश्न रहा है, और इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न दृष्टियो से विभिन्न विचारको ने दिया है। कही पर दया को धर्म का मूल बताया है।[1] कही पर विनय को धर्म का मूल कहा है[2]। और कही पर दर्शन को धर्म का मूल कहा है।[3] अपेक्षा दृष्टि से सभी कथन सत्य हैं। दया मे चारित्रसम्बन्धी सभी नियमो का समावेश हो जाता है। विनय का अर्थ यहाँ नम्रता नही किन्तु सदाचार ही है। सदाचार सम्यग्दर्शनमूलक होता है। इस प्रकार धर्म के मूल मे शब्दभेद होने पर भी आशयभेद नही है। तथापि गहराई से चिन्तन किया जाय तो यह स्पष्ट हुए बिना ।

---

१. दयामूलो भवेद्धर्मो, दयाप्राण्यनुकम्पनम् ।

—महापुराण-जिनसेन २१।५।९२

(ख) दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान ।

—संत तुलसीदास

२. एव धम्मस्स विणओ, मूल परमो से मोक्खो ।

—दशवैकालिक ९।२।२

कि मूलए धम्मे ?

सुदसणा, विणयमूले धम्मे ।

—ज्ञातासूत्र ५

३ दसणमूलो धम्मो ।

—कुन्दकुन्दाचार्य

रहेगा कि धर्म का मूल वस्तुत. सम्यग् दर्शन ही है, क्यो कि सम्यग्-दर्शन के अभाव मे दया सही दया नही है और विनय सही विनय नही है।[४]

सम्यग्दर्शन का अर्थ है विशुद्धदृष्टि। पाश्चात्य विचारक आर० विलियम्स के शब्दो मे—जिन द्वारा बताए गए मोक्ष मार्ग मे श्रद्धा सम्यक्त्व है।[५] आचार्य वसुनन्दिन् के अनुसार आप्त, आगम और तत्त्व—पदार्थ इन तीनो मे श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है।[६] पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण वीतराग पुरुष आप्त कहलाता है। उसकी वाणी आगम और उसके द्वारा उपदिष्ट पदार्थ-तत्त्व है।

श्रावकपंचाचार वृत्ति के अनुसार—तीर्थंकरो के द्वारा उपदिष्ट सत्यो मे श्रद्धा सम्यक्त्व है।[७]

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार—सुदेव, सुगुरु और सुधर्म मे श्रद्धा सम्यक्त्व है।[८]

आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दो मे 'व्यवहार नय से जीवादि तत्त्वो का

---

४. नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विना न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।
—उत्तराध्ययन २८।३०

५. आर० विलियम्स. 'जैन योग', प्रकाशक ओ० यू० प्रेस लन्दन १९६३ पृ० ४१।

६. अत्तागमतच्चाणं, ज सद्दहणं सुणिम्मल होइ।
सकाइदोसरहियं, त सम्मत्तं मुणेयव्व ॥
—वसुनन्दिश्रावकाचार गा० ६

७. सव्वाइ जिणेसरभासिआइ, वयणाइ नन्नहा हुति।
इअ बुद्धि जस्स मणे सम्मत्तं निच्चल तस्स।
—श्रावक पंचाचार वृत्ति, गा० ३

८ या देवे देवताबुद्धि, गुरौ च गुरुतामति.।
धर्मे च धर्मधी शुद्धा, सम्क्त्वमिदमुच्यते ॥
—योगशास्त्र, प्र० ३।२ श्लोक

का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, किन्तु निश्चय नय से आत्मा का श्रद्धान ही सम्यक्त्व है।[९]

उमास्वाति के शब्दो मे 'तत्त्वरूप पदार्थों की श्रद्धा अर्थात् दृढ प्रतीति सम्यग्दर्शन है।'[१०]

आधारभूत तथ्य को तत्त्व कहते है। स्थानाङ्ग[११] और उत्तराध्ययन[१२] आदि मे तत्त्व के नौ भेद किये हैं—(१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य, (४) पाप (५) आस्रव (६) सवर (७; निर्जरा (८) बध (९) मोक्ष।

उमास्वाति व आचार्य हेमचन्द्र ने तत्त्व के सात भेद किये हैं[१३]—(१) जीव (२) अजीव (३) आस्रव (४) बन्ध (५) सवर (६) निर्जरा (७) और मोक्ष। पुण्य और पाप को उन्होंने आस्रव के अन्तर्गत गिना है।

---

९ जीवादीसद्दहणं सम्मत्त, जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहाराणिच्छयदो, अप्पाए हवइ सम्मत्तं ॥

—दर्शन पाहुड २०

१०. तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्।

—तत्त्वार्थ सूत्र १।२

(ख) उत्तराध्ययन २८।१५

११. स्थानाङ्ग ६६५

१२. जीवा-जीवा य बधो य, पुण्ण पावाऽसवो तहा।
सवरो निज्जरा मोक्खो, सतेए तहिया नव ॥

—उत्तराध्ययन २८।१४

(ख) जीवाजीवा भावा, पुण्ण पाव च आसव तेसिं।
सवरणिज्जरबधो, मोक्खो य हव ति त अट्ठा ॥

—पंचास्तिकाय २।१०८

१३. जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।

—तत्त्वार्थसूत्र १।४

(ख) जीवाजीवाश्रवाश्चैव, सवरो निर्जरा तथा।
वधो मोक्षश्चेति सप्त, तत्त्वान्याहुर्मनीषिण. ॥

—सप्ततत्त्वप्रकरणम्-आचार्य हेमचन्द्र

सक्षेप दृष्टि से तत्त्व के दो भेद है। एक जीव और दूसरा अजीव।[१४] जीव का लक्ष्य शिव है, किन्तु उसका बाधक तत्त्व अजीव है। जीव शिव बनना चाहता है, पर अजीव तत्त्व जीव मे पय-पानीवत् घुल-मिल जाने के कारण जीव अपना शुद्ध स्वरूप पहचान नही पाता। वह अनादि अनन्त काल से अपने अशुद्ध रूप को ही शुद्ध रूप समझने की भयकर भूल कर रहा है। अपने आपको शुद्ध चैतन्यस्वरूप न मान कर शरीर से, इन्द्रियो से, मन से, कर्मोदयजनित मनुष्यपर्याय आदि से अभिन्न समझना मिथ्या है।

इसे ही जैन दार्शनिको ने मिथ्यात्व कहा है।[१५] रात्रिसंबधी अन्धकार को दूर किये विना जैसे सहस्त्ररश्मि सूर्य उदित नही होता वैसे ही मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को नष्ट किये विना सम्यग्दर्शन उत्पन्न नही होता।[१६] जव आत्मा मे सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव होता है तब वह आत्मा जीव और अजीव का पृथक्त्व समझता है। मैं जड नही चेतन हूँ ! मेरा स्वरूप शुद्ध चेतना है। मुझ मे राग, द्वेष आदि की जो विकृति है वह जड के ससर्ग से हैं। मैं सम्प्रति कर्मों से बद्ध हूँ, किन्तु कर्मो को

---

१४ (क) जीवरासी चेव अजीवरासी चेव।

—स्थानाङ्ग २।४।९५

(ख) दुवे रासी पन्नत्ता, तं जहा जीवरासी चेव अजीवरासी चेव।

—समवायांग २।१४९

(ग) जीवा चेवा अजीवा य, एस लोए वियाहिए ॥

—उत्तराध्ययन

(घ) पन्नवणा दुविहा पन्नत्ता—त जहा

जीवपन्नवणा य अजीवपन्नवणा य ॥

—पन्नवणा-१

१५. मिथ्या विपरीता दृष्टिर्यस्य स मिथ्यादृष्टि

—कर्मग्रन्थ टीका० २

१६. अनिर्भिद्य तमो नैश; यथा नोदयतेंऽशुमान्।
तथानुद्भिद्य मिथ्यात्वतमो नोदेति दर्शनम् ॥

—महापुराण, ११९।९।२००

नष्ट कर एक दिन मैं अवश्य ही मुक्त बनूगा।' इस प्रकार की निष्ठा उसके अन्तर्मानस मे जागृत होती है।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के दो कारण हैं—एक नैसर्गिक और दूसरा आधिगामिक।[१७] निसर्ग का अर्थ स्वभाव है। जब कर्मों की स्थिति कम होते-होते एक कोटाकोटी सागरोपम से भी कम रह जाती है और दर्शनमोह की तीव्रता मे कमी आ जाती है, तव परोपदेश के विना ही जो तत्त्वरुचि उत्पन्न होती है—यथार्थ दर्शन होता है,—वह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है।

श्रवण, मनन, अध्ययन या परोपदेश से सत्य के प्रति जो निष्ठा जागृत होती है, वह आधिगमिक सम्यग्दर्शन है। प्रस्तुत भेद बाह्य निमित्तविशेष के कारण ही है। दर्शनमोह का विलय जो अन्तरग कारण है, वह दोनो प्रकार के सम्यग्दर्शन मे अनिवार्य है।

एक यात्री यात्रा के लिए चला। पथभ्रष्ट हो गया इतस्तत परिभ्रमण करता हुआ स्वत पथ पर आगया, यह नैसर्गिक पथ-लाभ हुआ।

दूसरा यात्री यात्रा के लिए चला। पथभ्रष्ट होकर इधर उधर भटकता रहा। पथदर्शक से पथ पूछ कर पथ पर आरूढ हुआ, यह आधिगमिक पथ-लाभ हुआ। ठीक इसी प्रकार नैसर्गिक और आधिगमिक सम्यग्दर्शन है।

आचार्य जिनसेन के अभिमतानुसार देशनालब्धि और काललब्धि सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के बहिरंग कारण हैं, तथा करण लब्धि अन्तरग कारण है। जब दोनो की प्राप्ति होती है तभी भव्य जीव सम्यग्दर्शन का धारक होता है।[१८]

---

१७ तन्निसर्गादधिगमाद्वा।

—तत्त्वार्थ सूत्र १।३

१८ देशनाकाललब्ध्यादि, वाह्यकारणसम्पदि।
अन्त करणसामग्र्या, भव्यात्मा स्याद् विशुद्धिकृत्॥

—महापुराण, जिनसेन ११६।६।१६६

जब दर्शन मोह के परमाणुओ का पूर्ण उपशमन होता है तब औपशमिक सम्यक्त्व होता है। केवल विपाकोदय रुक कर प्रदेशोदय होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है और पूर्ण विलय (क्षय) होने पर क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

यद्यपि प्राप्ति-क्रम के सम्बन्ध मे कोई निश्चित मत नही है, तथापि यह स्पष्ट है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से सर्व प्रथम क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। महापुराण[१९] और कर्मग्रन्थ के अनुसार औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। कितने ही आचार्य दोनो विकल्पो को मान्य करते है और कितने ही आचार्यों का यह भी अभिमत है कि क्षायिक सम्यक्दर्शन भी पहले पहल प्राप्त हो सकता है। सम्यग्दर्शन का सादि अनन्त विकल्प इसका आधार है।

तत्त्वो के सही श्रद्धान से मिथ्यात्व का नाश होता है और सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है। जो आत्मविकास का प्रथम सोपान है[२०] जिससे श्रावक-धर्म या श्रमण-धर्म को ग्रहण करने के लिए कदम आगे बढते हैं।[२१]

सम्यग्दर्शन जीवन की अमूल्य निधि है। जिसे यह अमूल्य निधि प्राप्त हो जाती है वह भगी भी देव है। तीर्थङ्करो ने उसे देव कहा

---

१९. क्षयाद् दर्शनमोहस्य, सम्यक्त्वादानमादित ।
जन्तोरनादिमिथ्यात्वकलङ्ककलिलात्मन ॥

—महापुराण, ११७।९।२००

२० मोख महल की परथम सीढ़ी, या विन ज्ञान चरित्रा।
सम्यक्ता न लहै सो दर्शन, जानो भव्य पवित्रा ॥

—प० दौलतराम, छहढाला

(ख) दर्शन ज्ञानचारित्रात्सा[illegible]
दर्शन कर्णधार तन्मोक्ष[illegible]

२१. नत्थि [illegible] वहूणं, [illegible]
सम्मत्त[illegible] पुव्वं

है। राख से आच्छादित अग्नि का तेज तिमिर नही बनता, वह ज्योतिपुञ्ज ही रहता है।[22] मानवता का सार ज्ञान है और ज्ञान का आधार सम्यग्दर्शन है।[23]

कहा जाता है कि श्रीकृष्ण के पास सुदर्शन चक्र था, जिससे सम्पूर्ण शत्रुओ को पराजित करके त्रिखण्ड के अधिपति बन गये। आत्मारूपी कृष्ण के पास भी यदि सम्यग्दर्शनरूपी सुदर्शन चक्र है तो वह भी कषाय रूपी शत्रुओ को पराजित कर एक दिन त्रिलोकीनाथ बन सकता है।

महापुरुषो के विचारो का यह निथरा हुआ निचोड है—धर्मरूपी मोती सम्यग्दर्शन रूपी सीपी मे ही पनपता है।

ॐ

---

२२. सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातगदेहजम् ।
देवा देव विदुर्भस्म-गूढागारान्तरौजसम् ॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार २८

२३. नाणं नरस्स सारं, सारो वि नाणस्स होइ सम्मत्त ।

—दर्शन पाहुड-गा० ३१

जब दर्शन मोह के परमाणुओ का पूर्ण उपशमन होता है तब औपशमिक सम्यक्त्व होता है। केवल विपाकोदय रुक कर प्रदेशोदय होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है और पूर्ण विलय (क्षय) होने पर क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

यद्यपि प्राप्ति-क्रम के सम्बन्ध मे कोई निश्चित मत नहीं है, तथापि यह स्पष्ट है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से सर्व प्रथम क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। महापुराण[19] और कर्मग्रन्थ के अनुसार औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। कितने ही आचार्य दोनों विकल्पो को मान्य करते है और कितने ही आचार्यो का यह भी अभिमत है कि क्षायिक सम्यक्दर्शन भी पहले पहल प्राप्त हो सकता है। सम्यग्दर्शन का सादि अनन्त विकल्प इसका आधार है।

तत्त्वो के सही श्रद्धान से मिथ्यात्व का नाश होता है और सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है। जो आत्मविकास का प्रथम सोपान है[20] जिससे श्रावक-धर्म या श्रमण-धर्म को ग्रहण करने के लिए कदम आगे बढते हैं।[21]

सम्यग्दर्शन जीवन की अमूल्य निधि है। जिसे यह अमूल्य निधि प्राप्त हो जाती है वह भगी भी देव है। तीर्थङ्करो ने उसे देव कहा

---

१९. क्षयाद् दर्शनमोहस्य, सम्यक्त्वादानमादित.।
जन्तोरनादिमिथ्यात्वकलङ्ककलिलात्मन. ॥
—महापुराण, ११७।९।२००

२०. मोख महल की परथम सीढ़ी, या विन ज्ञान चरित्रा।
सम्यक्ता न लहै सो दर्शन, जानो भव्य पवित्रा ॥
—प० दौलतराम, छहढाला

(ख) दर्शन ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते,
दर्शन कर्णधार तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षवे।
—समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार

२१. नत्थि चरित्त सम्मत्तविहूणं, दसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्तचरित्ताइ, जुगव पुव्व व सम्मत्त ॥
—उत्तराध्ययन, अध्य० २८ गा० २९

है। राख से आच्छादित अग्नि का तेज तिमिर नही बनता, वह ज्योतिपुञ्ज ही रहता है।[22] मानवता का सार ज्ञान है और ज्ञान का आधार सम्यग्दर्शन है।[23]

कहा जाता है कि श्रीकृष्ण के पास सुदर्शन चक्र था, जिससे सम्पूर्ण शत्रुओ को पराजित करके त्रिखण्ड के अधिपति बन गये। आत्मारूपी कृष्ण के पास भी यदि सम्यग्दर्शनरूपी सुदर्शन चक्र है तो वह भी कषाय रूपी शत्रुओ को पराजित कर एक दिन त्रिलोकीनाथ बन सकता है।

महापुरुषो के विचारो का यह निथरा हुआ निचोड है—धर्मरूपी मोती सम्यग्दर्शन रूपी सीपी मे ही पनपता है।

२२. सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातगदेहजम्।
देवा देव विदुर्भस्म-गूढागारान्तरौजसम्॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार २८

२३ णाणं नरस्स सार, सारो वि नाणस्स होइ सम्मत्तं।

—दर्शन पाहुड—गा० ३१

छह | साधना का मूलाधार

अध्यात्मसाधना मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र[1]— इन तीनो का गौरवपूर्ण स्थान है। दृष्टि की विशुद्धि से ज्ञान विशुद्ध होता है[2] और ज्ञान की विशुद्धि से ही चारित्र निर्मल होता है।[3] अत. सन्त-सस्कृति के प्राण-प्रतिष्ठापक भगवान् महावीर ने साधना के कठोर कण्टकाकीर्ण महामार्ग पर बढने के पूर्व दृष्टि-विशुद्धि की प्रबल प्रेरणा प्रदान की है।[4] साधना की दृष्टि से सम्यग्दर्शन का प्रथम स्थान है, सम्यग्ज्ञान का द्वितीय और सम्यक् चारित्र का तृतीय है।[5]

सम्यग्दर्शन :

आत्मा को आत्मविस्मृति के गहन अन्धकार से निकालकर

---

१. तिविहे सम्मे पण्णत्ते, त जहा-णाणसम्मे, दसणसम्मे चरित्तसम्मे।

—स्थानाङ्ग ३।४।११४

२ नादसणिस्स नाणं,

—उत्तराध्ययन २८।३०

३. नाणेण विना न हुंति चरणगुणा।

—उत्तराध्ययन २८।३०

४. जेयाऽवुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदसिणो।
असुद्ध तेसिं परक्कतं, सफलं होई सव्वसो॥

—सूत्रकृताङ्ग अ० ८ गा० २२

५. सम्मद्दसण पढम, सम्मनाण विइज्जियं,
तइय च मम्मचारित्त, एगमूयमिम तिगं।

—महानिशीय, २

आत्म-भाव के आलोक से आलोकित करने वाली विवेकयुक्त दृष्टि ही True Faith सम्यग्दर्शन है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो आत्म-विकास की दृष्टि से किया गया जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष आदि तत्त्वो का यथार्थ श्रद्धान[६] सम्यग्दर्शन है।[७] श्रद्धा जीवन का सम्बल है। व्यावहारिक दृष्टि से 'जिन' की वाणी मे, जिनके उपदेश मे, जिसको दृढ निष्ठा है[८], वही सम्यग्दर्शी है।

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।[९] यदि मूल मे भूल है, सम्यग्दर्शन का अभाव है, तो सभी क्रियाए ससार का क्षय न कर अभिवृद्धि ही करती है।[१०] सम्यग्दर्शी पाप का अनुबन्धन नही करता।[११] जो सम्यग्दर्शन से संपन्न है वह कर्म से बद्ध नही होता और जो सम्यग्दर्शनविहीन है वही ससार मे परिभ्रमण करता है।[१२] चारित्र

---

६ स्थानाङ्ग, ९

७. (क) तहियाण तु भावाण, सब्भावे उवएसण।
भावेण सद्दहतस्स, सम्मत्त त वियाहियं॥
—उत्तराध्ययन २८।१५

(ख) तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्।
—तत्त्वार्थ सूत्र १।२

८. तमेव सच्च णीसक जं जिणेहि पवेइय।
—आचारांग, ५।१६३ उद्दे० ५

(ख) णिग्गथे पावयणे अट्ठे, अय परमट्ठे, सेसे अणट्ठे।
—भगवती २।५

९. दसणमूलो धम्मो।
—दर्शन पाहुड

१०. नत्थि चरित्त सम्मत्तविहूण।
—उत्तराध्ययन अ० २८ गा० २९

११. सम्मत्तदसी न करेइ पाव।
—आचाराग १।३।२

१२. सम्यग्दर्शनसम्पन्न, कर्मभि र्न निबद्ध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु, संसार प्रतिपद्यते॥
—मनुसंहिता, ६।७४

से भ्रष्ट व्यक्ति का निर्वाण सम्भव है, पर सम्यग्दर्शन से चलित आत्मा का निर्वाण असम्भव है।[13]

आध्यात्मिक क्षेत्र मे सम्यग्दर्शन की अपार महिमा गाई गई है। ज्ञातृ धर्मकथा मे इसे रत्न की उपाधि प्रदान की गई है।[14] जिस साधक को इस 'चिन्तामणि' दिव्यरत्न की समुपलब्धि हो जाती है वह चाण्डाल भी देव है। तीर्थङ्करो ने उसे देव माना है। राख से आच्छादित आग की तरह उसके अन्तरतर मे ज्योतिपुञ्ज जाज्वल्यमान रहता है।[15]

सम्यग्दर्शी साधक आत्म-अभ्युदय के पथ पर निरन्तर अग्रसर होता रहता है। वह कभी परिश्रान्ति का अनुभव नही करता। वह यथार्थ द्रष्टा होता है। उसके अन्तर्मानस मे सत्य की जगमगाती ज्योति निरन्तर जलती रहती है। सत्य ही लोक मे सारभूत है[16], सत्य ही भगवान् है।[17] सत्य भगवान् की आराधना साधना ही उसके जीवन का ध्येय होता है। सत्य की पर्युपासना करने वाले सम्यग्दृष्टि के लिए मिथ्याश्रुत भी सम्यक् श्रुत बन जाते हैं।[18] सत्य

---

१३. दसणभट्ठा भट्ठा, दसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झति चरियभट्ठा, दसणभट्ठा ण सिज्झति ॥

—षट्प्राभृत

१४. अपडिलद्धसम्मत्तरयणपडिलभेणं....

—ज्ञातृ धर्मकथा, अ० १ सू० ४५

१५. सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढागारान्तरोजसम् ॥

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार २८

१६. सच्च लोगम्मि सारभूय।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र

१७, सच्च खु भगवं।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र

१८. सम्मदिट्ठिस्स सुअ सुयनाणं,
मिच्छादिट्ठिस्स सुअ सुअ-अन्नाणं,

—नन्दीसुत्त

साधक राग-द्वेषात्मक ससार से पार हो जाता है।[19] वह देवगति के सिवाय अन्य किसी भी गति का आयु बन्ध नही करता।[20] वह अवर्णनीय और अचिन्त्य आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करता है। एक आचार्य के शब्दो मे सम्यग्दर्शन यथार्थ मे बहुत सूक्ष्म है और वह वाणी से परे है।[21]

सम्यग्दर्शन शब्द मे विराट् अर्थ सन्निहित है। सम्यक्त्व, सच्चाई, हकीकत, रास्ती, ट्रुथ, ऋत, समत्व, योग, श्रद्धा आदि शब्दो से जो आशय निकलता है, उस सबका समावेश इसमे हो जाता है। प्राय. सभी दर्शनो और विचारको ने सम्यग्दर्शन को अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार महत्त्व प्रदान किया है और उसे मुक्ति का मुख्य कारण माना है। समन्वयदृष्टि से चिन्तन करने पर सूर्य के उजाले की भाँति स्पष्ट परिज्ञान होता है कि भाषा मे अन्तर होने पर भी उनका भाव समान ही है।

गीता ने योग[22] को सम्यग्दर्शन कहा है तो न्यायदर्शन[23] ने तत्त्वज्ञान को। साख्यदर्शन[24] ने भेदज्ञान को सम्यग्दर्शन माना है तो योगदर्शन[25] ने विवेकख्याति को। बौद्धदर्शन ने क्षणभगुरता और चार आर्य सत्यो का ज्ञान सम्यग्दर्शन स्वीकार किया है[26] तो वेदो ने ऋत को।

---

१९. सच्चस्स आणाए उवट्ठिओ मेहावी मार तरइ।

—आचारांग

२०. भगवती ३०।१

२१. सम्यक्त्व वस्तुत. सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्।

२२. समत्त्व योग उच्यते।

—गीता २।४८

२३. न्यायसूत्र ४।१।३०६

२४. साख्य कारिका ६४

२५. योग दर्शन १।१३

२६ बौद्ध दर्शन

सम्यग्दर्शन जीवन की श्रेष्ठ कला है। आत्मा की सहज अभिव्यक्ति है। एतदर्थ ही जैन सस्कृति के इस मौलिक तत्त्व को सभी विचारको ने अपने यहाँ स्थान दिया है।

सम्यग्ज्ञान :

ज्ञान आत्मा का निज गुण है। ज्ञान के अभाव मे आत्मा की कल्पना करना सभव नही। न्याय वैशेपिक दर्शन की तरह जैन दर्शन ने ज्ञान को औपाधिक या आगन्तुक नही माना, किन्तु आत्मा का मौलिक गुण माना है। ज्ञान आत्मा ही है, आत्मा से अभिन्न है।[२७] जो आत्मा है वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वह आत्मा है।[२८] व्यवहार नय से ज्ञान और आत्मा मे भेद है, किन्तु निश्चयनय से आत्मा और ज्ञान मे कोई भेद नही है।[२९] अनन्त ज्ञानशक्ति आत्मा मे स्वभाव से ही विद्यमान है किन्तु ज्ञानावरण कर्म से आच्छादित होने के कारण उसका पूर्ण प्रकाश प्रकट नही होने पारहा है। ज्यो ज्यो आवरण हटता जाता है त्यो-त्यो ज्ञानप्रकाश भी बढ़ता जाता है, पर आत्मा की ऐसी अवस्था कभी नही होती कि उसमे किंचित् भी ज्ञान का आलोक न हो।[३०] किन्तु सम्यग्दर्शन-सहचरित न होने से वह ज्ञान अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान कहलाता है।

आत्मा क्या है? कर्म क्या है? बंधन क्या है? कर्म आत्मा के साथ क्यो बद्ध होते है? आदि विषयो का यथार्थ रूप से परिज्ञान ही True knowledge सम्यग्ज्ञान है। अयथार्थ वोध मिथ्याज्ञान है।[३१]

---

२७. णाणे पुण णियमं आया।

—भगवती १२।१०

२८. जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया।

—आचाराग, ५।५।१६६

२९. समयसार—६।७

३०. सव्वजीवाणंपि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडियो।

—नन्दी सूत्र ४३

३१. द्रव्य संग्रह

दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो प्रत्येक द्रव्य का उनकी अनन्त गुण पर्यायो सहित और अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।[32]

ज्ञान उस तृतीय नेत्र के समान है जिसके अभाव मे जीव शिव नही बन सकता, आत्मा भवबन्धनो से विमुक्त नही हो सकता। महान् विचारक शेक्सपियर के शब्दो मे 'ज्ञान वह पख है जिससे हम स्वर्ग मे उडते है।'[33] कन्फ्यूशियस ने ज्ञान को आनन्दप्रदाता माना है।[34] वस्तुत सम्यग्ज्ञान ही सच्चे सुख का कारण है। जब तक सम्यग्ज्ञान नही होता तब तक विकारो का विनाश होकर विचारो का विकास नही होता।

वैदिक दार्शनिको ने भी सम्यग्ज्ञान को महत्त्व दिया है[35] और उसे 'ब्रह्मविद्या' कहा है। 'अध्यात्मविद्या' ही समस्त विद्याओं की प्रतिष्ठा है।[36] वही उन सब मे प्रमुख है।[37] उनको दीपक के समान आलोक दिखाने वाली है।[38] और परिपूर्णता प्राप्त करानेवाली है।

---

३२ ज जह थक्कउ दव्वु, जिय त तह जाणइ जोजि।
अप्पह केरउ भावडउ णाणु मुणिज्जहि सोजि॥

—परमात्म प्रकाश २।२६

३३ ज्ञानगगा, अयोध्याप्रसाद गोयलीय

३४. अमर वाणी

३५. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा, सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

—मुण्डकोपनिषद्

३६. ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्।

—मुण्डकोपनिषद् १।१।१

३७. सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञान पर स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्य सर्वविद्याना प्राप्यते ह्यमृत तत॥

—मनुस्मृति १२-८५

३८. प्रदीप सर्वविद्यानामुपाय सर्वकर्मणाम्।
आश्रय. सर्वधर्माणा, शश्वदान्वीक्षिकी मता॥

—कौटिलीय अर्थशास्त्र १।२

यही सर्वोत्कृष्ट धर्म है और ज्ञानो मे श्रेष्ठ ज्ञान है।[३९] इस एक का परिज्ञान होने पर कुछ भी ज्ञातव्य नही रह जाता।[४०] इस आत्मविद्या के द्वारा राग-द्वेष की प्रहाणि की जाती है[४१] और यही सर्वोत्तम राजविद्या है।[४२] न्यायदर्शन मिथ्याज्ञान, मोह आदि को ससार का मूल मानता है[४३] और साख्य दर्शन विपर्यय को।[४४] बौद्ध दर्शन अविद्या, राग-द्वेष को संसार का प्रधान कारण स्वीकारता है।[४५] जैन दृष्टि से साधना के क्षेत्र मे सम्यग्ज्ञान का वही महत्त्व है जैसा सम्यग्दर्शन का है। ज्ञान प्रकाशक है।[४६] प्रथम ज्ञान और फिर चारित्र प्रादुर्भूत होता है।[४७]

सम्यक् चारित्र :

आत्मस्वरूप मे रमण करना और जिनेश्वरदेवो के वचनो पर

---

३९. (क) अयं तु परमो धर्म यद्योगेनात्मदर्शनम् ।

—याज्ञवल्क्य १।१।८

(ख) आत्मज्ञान पर ज्ञानम् ।

—महाभारत, शान्तिपर्व

४०. यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यत् ज्ञातव्यमवशिष्यते ।

—गीता ७।२

४१. आन्वीक्षिक्यात्मविद्या, स्यादीक्षणात् सुखदु.खयो. ।
ईक्षमाणस्तया तत्त्व, हर्षशोको व्युदस्यति ॥

—शुक्रनीति १।१५२

४२. राजविद्या राजगुह्य, पवित्रमिदमुत्तमम् ।

—गीता ६।२

४३ न्यायसूत्र ४।१-३-६

४४. साख्य कारिका ६४।३

४५. बुद्ध वचन

४६. णाणं पयासयं ।

—महानिशीथ ७

४७. पढम णाणं तओ दया ।

—दशवैकालिक ४

पूर्ण आस्था रखते हुए अच्छी तरह उन्ही के अनुरूप आचरण करना True Conduct सम्यक् चारित्र है।

ज्ञान नेत्र है, चारित्र चरण है। पथ का अवलोकन तो किया, पर चरण उस ओर नही बढे तो अभीप्सित लक्ष्य की प्राप्ति असभव है। स्विनाँक ने लिखा है—'बिना चारित्र के ज्ञान शीशे की आँख की तरह है, सिर्फ दिखलाने के लिए और एक दम उपयोगितारहित।" ज्ञान का फल विरक्ति है।[४८] ज्ञान होने पर भी यदि विषयो मे अनुरक्ति बनी रही तो वह वास्तविक ज्ञान नही है।

सम्यक् चारित्र जैन साधना का प्राण है। विभावगत आत्मा को पुन शुद्ध स्वरूप मे अधिष्ठित करने के लिए सत्य के परिज्ञान के साथ जागरूक भाव से सक्रिय रहना आचार-आराधना है। चारित्र एक ऐसा चमकता हीरा है जो हर किसी पत्थर को घिस सकता है। जीवन का लक्ष्य सुख नही, चारित्र है।[४९] उत्तम व्यक्ति शब्दो से सुस्त और चारित्र से चुस्त होता है।[५०] बौद्ध साहित्य मे सम्यक् चारित्र को ही सम्यक् व्यायाम कहा है।

समन्वय :

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र—ये साधना के तीन अग हैं। अन्य दर्शनकार केवल साधना के एक-एक अंग को प्रमुखता देते हैं—किन्तु जैन दर्शनकार तीनो के समन्वय को। भगवान् श्री महावीर ने चार प्रकार के पुरुष बताए हैं—

एक शीलसम्पन्न है, श्रुतसम्पन्न नही।
दूसरा श्रुतसम्पन्न है, शीलसम्पन्न नही।
तीसरा शील सम्पन्न है, और श्रुत सम्पन्न है।
चौथा न शील सम्पन्न है, न श्रुत सम्पन्न है।

---

४८ ज्ञानस्य फल विरतिः

४९. वीचर

५०. कन्फ्यूशियस

प्रथम व्यक्ति मोक्षमार्ग का देश आराधक है।[५१] दूसरा देश विराधक है।[५२] तीसरा सर्व आराधक है[५३], और चौथा सर्व विराधक है।[५४]

इस चतुर्भङ्गी मे भगवान् ने बताया कि कोरा शील कल्याण की एकागी आराधना है। कोरा ज्ञान भी इसी प्रकार का है। शील और ज्ञान दोनो ही नही है तो वह कल्याण की आराधना है ही नही। शील और ज्ञान दोनो की सगति है तो वह कल्याण की सर्वाङ्गीण आराधना है।[५५]

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति चतुर्थ गुणस्थान मे हो जाती है। सातवें गुणस्थान तक वह अवश्य ही वह पूर्णता प्राप्त कर लेता है। सम्यग्ज्ञान की पूर्णता तेरहवें मे और सम्यक् चारित्र की पूर्णता चौदहवे गुणस्थान मे होती है। जब तीनों पूर्ण होते है तभी साध्य की सिद्धि होती है, अचिन्त्य अविनाशी मोक्ष पद की प्राप्ति होती है।[५६] पूर्ण विद्या और चारित्र का समन्वय ही मोक्ष है।[५७]

---

५१. भगवती ८।१०

५२ भगवती ८।१०

५३. भगवती ८।१०

५४. भगवती ८।१०

५५. भगवती ८।१०

५६. सद्दृष्टिज्ञानचारित्रत्रय यः सेवते कृती।
रसायनमिवातर्क्यं सोऽमृत पदमश्नुते ॥
—महापुराण, पर्व ११ श्लोक० ५९

५७. आहसु विज्जाचरणं पमोक्ख।
—सूत्रकृताङ्ग १।१२।११

सात | श्रमणसंस्कृति और तप

श्रमण सस्कृति तप प्रधान सस्कृति है। तप श्रमण सस्कृति का प्राण-तत्त्व है। जीवन की कला है। आत्मा की अन्त स्फूर्त पवित्रता है, जीवन का आलोक है। तप की महिमा और गरिमा का जो गौरव-गान श्रमण सस्कृति ने गाया है, वह अनूठा है, अपूर्व है।

श्रमण सस्कृति का आधार श्रमण है। जैनागमो मे अनेक स्थलो पर 'समण' शब्द व्यवहृत हुआ है, जिसका अर्थ साधु है। 'श्रमण' शब्द के तीन रूप होते हैं—'श्रमण' 'समन' और 'शमन'। श्रमण शब्द श्रम धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है—श्रम करना।

दशवैकालिक वृत्ति मे आचार्य हरिभद्र ने तप का अपर नाम श्रम भी दिया है।[1] श्रमण का अर्थ तपस्या से खिन्न[2], क्षीण काय तपस्वी[3] किया है। जो व्यक्ति अपने ही श्रम से उत्कर्ष की प्राप्ति करता है वह श्रमण है।

---

१. श्राम्यन्तीति श्रमणा. तपस्यन्तीत्यर्थ.।

—दशवैकालिक वृत्ति १।३

२ श्रम तपसि खेदे।

३. श्राम्यति तपसा खिद्यत इति कृत्वा श्रमण ।

—सूत्रकृताङ्ग १।१६।१ शीलाङ्क टीका, पत्र २६३

श्रमण संस्कृति ने तप को धर्म माना है।[४] स्थानाङ्ग[५], समवायाङ्ग[६] मे दश विध धर्म का जो उल्लेख है उसमे तप भी एक है। मोक्ष मार्ग की साधना करने वाले साधक के लिए तप की साधना अनिवार्य है।[७]

आगम साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि श्रमण संस्कृति का श्रमण श्रमणत्व को स्वीकार कर तप कर्म का आचरण करता है।[८] सभी तीर्थंकर तप के साथ ही प्रव्रज्या लेते है।[९] क्योकि

---

४ धम्मो मगलमुक्किट्ठं, अहिंसा सजमो तवो।

—दशवैकालिक १।१

५. खती मुत्ती अज्जवे मद्दवे लाघवे सच्चे।
संजमे तवे चियाए बभचेरवासे॥

—स्थानाङ्ग ७१२

६. खती य मद्दवज्जव, मुत्ती तव सजमे य बोद्धव्वे।
सच्च सोय आकिचण च, बभं च जइ-धम्मो॥

—समवायाङ्ग १०

७. नाणं च दसणं चेव, चरित्त च तवो तहा।
एय मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइ॥

—उत्तराध्ययन २८।३

८ जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एव जहा उसभदत्तो तहेव पव्वइओ, णवर पचहि पुरिससएहि सद्धि तहेव जाव सामाइयमाइयाइ एक्कारसअंगाइं अहिज्जइ, अहिज्जइत्ता बहूहिं चउत्थ छट्ठट्ठ मजाव मासद्धमासक्खमणेहि विचित्तेहि तवोकम्मेहि अप्पाण भावेमाणे विहरइ।

—भगवती ९।३३

(ख) भगवती २।१।९०६

९. सुमइत्थ णिच्चभत्तेण, णिग्गओ वासुपुज्ज चोत्थेण।
पासो मल्ली य अट्ठमेण सेसा उ छट्ठेण॥

—समवायाङ्ग सूत्र १९८

(ख) सुमइत्थ निच्चभत्तेण, निग्गतो वासुपुज्ज जिण चउत्थेण।
पासो मल्लीवि य अट्ठमेण सेसा उ छट्ठेण॥

—आवश्यक निर्युक्ति गा० २५०

तप मगल ही नही, उत्कृष्ट मंगल है।[10] भगवान् श्री ऋषभदेव ने एक हजार वर्ष तक छद्मस्थावस्था मे तप की साधना की।[11] भगवान् श्री महावीर ने भी बारह वर्ष और तेरह पक्ष तक उग्र तप तपा।[12] इस लम्बी अवधि मे उन्होने केवल तीन सौ उनपचास दिन आहार ग्रहण किया।[13] शेष दिन वे निर्जल और निराहार रहे। आचाराग, आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक चूर्णि, आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति, आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, त्रिषष्ठिशलाकापुरुष चरित्र, महावीर चरिय, प्रभृति ग्रन्थो मे भगवान् श्री महावीर के उग्र तप का जो रोमाचकारी वर्णन किया है उसे पढकर पाठक विस्मित हो जाता है। आचार्य भद्रबाहु[14] के शब्दो मे अन्य तीर्थङ्करो की अपेक्षा महावीर का तप कर्म अत्युग्र था।

दिगम्बर आचार्य गुणभद्र के अभिमत से सुमतिनाथ ने भी वेला के तप से दीक्षा ग्रहण की थी :—

दीक्षा षष्ठोपवासेन सहेतुकवनेऽगृहीत्।
सिते राज्ञा सहस्रेण सुमतिर्नवमीदिने ॥

—उत्तर पुराण, पर्व ६१, श्लो० ७० पृ० ३०

१०. दशवैकालिक १।१

११. उसभेण अरहा कोसलिए एग वाससहस्स निच्च वोसट्ठकाये चियत्तदेहे जाव अप्पाण भावेमाणस्स एगकं वाससहस्स विइक्कंत।

—कल्पसूत्र सू० १९६ पृ० ५८
(पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित)

(ख) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सू० ४०–४१ पृ० ८४।

१२. आवश्यक निर्युक्ति गा० ५२६ से ५३५

(ख) आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति प० २२७–२२९

(ग) त्रिषष्ठिशलाकापुरुष चरित्र १०।४।६५२–६५७

(घ) महावीर चरिय, गुणचन्द्र ७।१–८, प० २५०

१३ तिन्नि सए दिवसाणं अउणापन्ने य पारणाकालो।

—आवश्यक निर्युक्ति ५३४

१४. उग्ग च तवो कम्मं, विसेसओ वद्धमाणस्स।

—आवश्यक निर्युक्ति गा० २४०

भगवान् महावीर के जीवन का तलस्पर्शी अध्ययन करने पर नि.सकोच कहा जा सकता है कि वे तपोविज्ञान के अद्वितीय आचार्य थे। उन्होने अपने समय मे प्रचलित देहदमनरूप बहिर्मुख तप का आन्तरिक साधना के साथ सामंजस्य स्थापित किया और उसे आन्तरिक एवं व्यापक स्वरूप प्रदान किया। इस प्रकार वे तप साधना के महान् संस्कर्त्ता और साथ ही पुरस्कर्त्ता भी हुए। उनकी अनेक बहुमूल्य देनो मे तपविषयक देन भी कम महत्त्व की नही है।

जैनागमो[१५] की तरह बौद्ध वाङ्मय मे भी अनेक स्थलो पर महावीर के शिष्यो के लिए 'निगठ' के साथ 'तपस्सी' 'दिग्घ तपस्सी' विशेषण प्रयुक्त हुए हैं।[१६] इससे भी स्पष्ट है कि महावीर स्वयं कितने उग्र तपस्वी रहे होंगे। अनुत्तरौपपातिक[१७], अन्तकृत् दशा[१८], भगवती[१९] आदि आगमो मे महावीर के शिष्य और शिष्याओ का वर्णन है। उन्होंने रत्नावली, कनकावली, मुक्तावली लघुसिंहनिष्क्रीडित, भिक्षु प्रतिमा, लघु सर्वतोभद्र, महासर्वतोभद्र, भद्रोत्तर प्रतिमा, आयंबिल वर्धमान, गुणरत्न सवत्सर, चन्द्र प्रतिमा, सलेखना आदि महान् तप करके देह को जर्जरित बनाया था।[२०] "तवसूरा अणगारा"+ अनगार तप मे शूर होते हैं, यह जैन परम्परा का प्रसिद्ध वाक्य है।

---

१५. उग्गतवे, दित्ततवे, तत्ततवे, महातवे, ओराले घोरे घोरगुणे घोर तवस्सी।

—भगवती शतक १ उद्दे० २

१६. मज्झिमनिकाय ५६ उपालिसुत्त २।१।६

१७. अनुत्तरोपपातिक वर्ग ३

१८ अन्तकृत्दशा वर्ग ६, अ० ३, वर्ग ८, अ० १–१०

१९. भगवती २।१

२०. अन्तकृत्दशा।

+ खंतिसूरा अरिहन्ता, तवसूरा अणगारा।
दाणसूरे वेसमणे, जुद्धसूरे वासुदेवे ॥

—ठाणाङ्ग ४।३।३९३

जैन श्रमण के लिए जहाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्रसम्पन्न विशेषण प्रयुक्त हुए है वहाँ उसे तपसम्पन्न भी कहा गया है ।[21]

तप जीवनोत्थान का प्रशस्त पथ है। तप की उत्कृष्ट आराधना-साधना से तीर्थङ्कर पद प्राप्त होता है। सभी तीर्थङ्करो ने अपने पूर्व भवो मे तप की साधना की । श्रमण भगवान् श्री महावीर के जीव ने 'नन्दन' के भव मे एक लक्ष वर्ष तक निरन्तर मासखमण की तपस्या की।[22] उन मासखमणो की सख्या ग्यारह लाख साठ हजार थी।

वैदिक सस्कृति ने भी साधक के लिए तप की साधना आवश्यक मानी है।[23] योग दर्शन ने तप को क्रियायोग मे स्थान दिया है।[24]

---

२१ भगवती ।

२२ सयसहस्स सव्वत्थ मासभत्तेण ।

—आवश्यक नियुक्ति, गा० ४५०

(ख) एक्कारस अगाइ अहिज्जित्ता तत्थ मास मासेण खममाणो एग वाससहस्स परियाग पाउणित्ता—

—आवश्यक चूर्णि पृ० २३५
जिनदासगणी महत्तर

(ग) सयसहस्स त्ति वर्षशतसहस्र यावदिति । कथ ? सर्वत्र मासभक्तेनेति अनवरतमासोपवासेनेति ।

—आवश्यक मलयगिरिवृत्ति प० २५२

(घ) तत्र वर्षलक्ष सर्वदा मासक्षपणेन तपस्तप्त्वा ।

—समवायाङ्ग, अभयदेव वृत्ति १३६

(ङ) मासोपवासै सततै श्रामण्य स प्रकर्षयन् ।
व्यहार्षीद्गुरुणा सार्ध ग्रामाकरपुरादिषु ।।

—त्रिषष्ठि० १०।१।२२१

२३. शौचसन्तोषतप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा ।

—योगदर्शन २।३२

२४. तप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग ।

—योगदर्शन २।१

उपनिषद्,[२५] गीता,[२६] और मनुस्मृति[२७] ने भी तप और स्वाध्याय पर पर बल दिया है। किन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि वैदिक संस्कृति की तप. साधना मे और जैन सस्कृति की तप. साधना मे महान् अन्तर है।

जैन सकृति ने तप को दो भागो मे विभक्त किया है—एक बाह्य तप और दूसरा आभ्यन्तर तप।[२८]

---

२५ स तपोऽतप्यत।

—बृहदारण्यक १।२।६

(ख) तपस्तप्यते बहूनि वर्पसहस्राणि।

—बृहदारण्यक ३।८।१०

(ग) यज्ञेन दानेन तपसा।

—बृहदारण्यक ४।४।२२

(घ) तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च

—तैत्तिरीय उपनिषद् १।६।१

२६. श्रद्धया परया तप्त तप

—गीता १७।१७

२७ क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वासो, दानेनाऽकार्यकारिण।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमा.॥

—मनुस्मृति ५।१०६

(ख) अद्भिर् गात्राणि शुद्ध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्या भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

—मनुस्मृति ५।१०८

(ग) तपश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम्।

—मनुस्मृति ६।७५

(घ) तपो विद्या च विप्रस्य, नि श्रेयसकरं परम्।
तपसा किल्विप हन्ति, विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

—वहीं १२।१०४

२८. सो तवो दुविहो वुत्तो, वाहिरब्भन्तरो तहा।
वाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो॥

—उत्तरा० ३०।७

जिस तप मे शारीरिक क्रिया की प्रधानता होती है और जो बाह्य द्रव्यो की अपेक्षायुक्त होने से दूसरो को दृष्टिगोचर होता है वह बाह्य तप है। और जिस तप मे मानसिक क्रिया की प्रधानता होती है, अन्तर्वृत्तियो की परिशुद्धि मुख्य होती है और जो मुख्य रूप से बाह्य द्रव्यो की अपेक्षा न रखने के कारण दूसरो को भी नही दीखता है, वह आभ्यन्तर तप है।[२९]

बाह्य तप के छह भेद हैं[30]—

(१) अनशन—आहार, जल आदि का एक दिन, या अधिक दिन अथवा जीवन पर्यन्त के लिए त्याग करना अनशन है। इत्वरिक—अल्पकालिक और यावत्कथिक-यावज्जीवित, ये मुख्य रूप से दो भेद

---

२९ बाह्यतप—बाह्यशरीरस्य परिशोषणेन कर्मक्षपणहेतुत्वादिति, आभ्यन्तर—चित्तनिरोधप्राधान्येन कर्मक्षपणहेतुत्वादिति।

—समवायाङ्ग सम० ६ की अभयदेव वृत्ति

(ख) अब्भितरए—अभ्यन्तरम्—आन्तरस्यैव शरीरस्य तापनात्सम्यग्दृष्टिभिरेव तपस्तया प्रतीयमानत्वाच्च, 'बाहिरए' त्ति बाह्यस्यैव शरीरस्य तापनान्मिथ्यादृष्टिभिरपि तपस्तया प्रतीयमानत्वाच्चेति।

—औपपातिक सूत्र ३० की अभयदेव वृत्ति

(ग) बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम् कथमस्याभ्यन्तरत्वम् ? मनोनियमनार्थत्वात्।

—तत्त्वार्थसूत्र ९।१९–२०, सर्वार्थसिद्धि

३० अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो सलीणया, य वज्झो तवो होइ॥

—उत्तराध्ययन ३०।८

(ख) अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः।

—तत्त्वार्थसूत्र० अ० ९, सू० १९

(ग) मूलाचार—वट्टकेर ३४६

(घ) ठाणाङ्ग ६। सू० ५११

(ङ) प्रवचनसारोद्धार गाथा २७०–२७२

है। इत्वरिक तप अवकाक्षासहित होता है और यावत्कथिक अवकाक्षा रहित होता है।[31] इन दोनों के भी अनेक भेद प्रभेद हैं।

(२) ऊनोदरिका—आगम साहित्य मे ऊनोदरिका[32], अवमोदरिका[33] और अवमौदर्य[34] ये तीन नाम उपलब्ध होते है। आहार की मात्रा से कम खाना, कुछ भूखा रहना, कषायो को कम करना, उपकरणो को कम करना ऊनोदरिका है। मुख्य रूप से ऊनोदरिका तप के तीन भेद हैं—(१) उपकरण अवमोदरिका, (२) भक्त पान अवमोदरिका (३) और भाव अवमोदरिका।[35] इन तीनो के भी अनेक भेद प्रभेद प्रतिपादित किये गये है।[36]

(३) भिक्षाचर्या—स्थानाङ्ग, भगवती, उत्तराध्ययन और औपपातिक मे प्रस्तुत नाम प्राप्त है और समवायाग,[37] व तत्त्वार्थ सूत्र[38] मे

---

३१. इत्तरिय मरणकाला य, अणसणा दुविहा भवे।
इत्तरिय सावकखा निरवकखा उ बिइज्जिया॥
—उत्तराध्ययन ३०।६

३२. समवायाङ्ग सम० ६
(ख) भगवती २५।७
(ग) उत्तराध्ययन ३०।८

३३. (क) स्थानाङ्ग ३।३।१८२
(ख) औपपातिक ३०
(ग) भगवती २५।७

३४ (क) उत्तराध्ययन ३०।१४,२३
(ख) तत्त्वार्थ सूत्र ६।१६

३५. तिविहा ओमोयरिया प० तं० उवगरणोमोयरिया, भत्तपाणोमोदरिता, भावोमोदरिता। —स्थानाङ्ग ३।३।१८२

३६. औपपातिक ३०
(ख) भगवती २५।७
(ग) ठाणाङ्ग ३।३।१८२
(घ) उत्तराध्ययन ३०

३७. समवायाङ्ग, सम० ६

३८. तत्त्वार्थ सूत्र १६।१६

इसे 'वृत्ति सक्षेप' और 'वृत्तिपरिसख्यान' कहा है। अभिग्रह पूर्वक भिक्षा का कम करना वृत्तिसक्षेप है।[39] अर्थात् जीवन निर्वाह के साधनो का संयम करना। औपपातिक[40] और भगवती[41] मे इसके तीस भेदो का उल्लेख है। स्थानाङ्ग[42] मे उनके अतिरिक्त दो भेदो का और उल्लेख किया है तथा उत्तराध्ययन[43] मे भी अन्य भेदो का निरूपण है।

(४) रसपरित्याग—घृत, दूध, दही, मक्खन आदि रसो का परित्याग करना,[44] तथा प्रणीत पान भोजन का वर्जन करना। उमास्वाति ने मद्य, मास, मधु और मक्खन आदि जो रस विकृतियाँ है उनका प्रत्याख्यान तथा विरस आदि का अभिग्रह रस

(ख) दशवैकालिक नियुक्ति गा० ४७

३६ भिक्षाचर्या सर्वं तपो निर्जराङ्गत्वादनशनवद् अथवा सामान्योपादानेऽपि विशिष्टा विचित्राभिग्रहयुक्तत्वेन वृत्तिसक्षेपरूपा सा ग्राह्या।

ठाणाङ्ग ५।३।५१ वृत्ति

४०. औपपातिक सम० ३०

४१. भगवती २५।७

४२. ठाणाङ्ग ५।१।३९६

४३. अट्ठविहगोयरग्गं तु तहा सत्तेव एसणा।
अभिग्गहा य जे अन्ने भिक्खायरियमाहिया॥

—उत्तरा० ३०।२५

४४. खीरदहिसप्पिमाई पणीय पाणभोयण,
परिवज्जण रसाण तु भणिय रसविवज्जण।

—उत्तरा० ३०।२६

(ख) घृतादिवृष्यरसपरित्यागश्चतुर्थं तप।

—तत्त्वार्थ० ९।१९ सर्वार्थसिद्धिः

परित्याग तप माना है ।[४५] इसके भी औपपातिक मे नौ भेद बताये हैं ।[४६]

(५) कायक्लेश—आसन, आतापना, विभूषा-वर्जन और परिकर्म के द्वारा शरीर को स्थिर करना कायक्लेश तप है ।[४७] इसके आगमो मे कही पर सात,[४८] कही पर दस[४९] और कही पर बारह भेद[५०] निरूपित किये गये है ।

(६) प्रतिसलीनता—मन और इन्द्रियो को अपने विषयो से हटाकर अन्तर्मुख करना, अनुदीर्ण क्रोधादि कषायो का निरोध करना तथा उदय मे आये हुए को विफल करना और स्त्री-पशु नपुंसक रहित एकान्त शान्त स्थान मे निवास करना प्रति-संलीनता तप है ।

यह (१) इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता (२) कषाय प्रति सलीनता, (३) योग

---

४५. रसपरित्यागोऽनेकविध. । तद्यथा—मासमधुनवनीतादीना मद्यरस-विकृतीना प्रत्याख्यान विरसरूक्षाद्यभिग्रहश्च ।

—तत्त्वार्थ० ६।१६ भाष्य

४६. से किं त रस परिच्चाए ? अरोगविहे पण्णत्ते । त जहा—निव्वीइए, पणीयरसपरिच्चाए (३) आयंविलिए (४) आयामसित्थभोई (५) अरसाहारे, (६) विरसाहारे, (७) अन्ताहारे (८) पन्ताहारे, (६) लूहाहारे ।

—औपपातिक, सम० ३०

४७. ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा ।
उग्गा जहा धरिज्जन्ति कायकिलेस तमाहिय ॥

—उत्तरा० ३०।२७

४८. ठाणाङ्ग ७।३।५५४

४६. ठाणाङ्ग ५।१।३६६

५०. औपपातिक, सम० ३०

(ख) भगवती २५।७ मे भी कायक्लेश के अनेक भेद बताये है ।

प्रतिसलीनता (४) विविक्तशयनासनसेवनता के रूप मे चार प्रकार का है। और इनके भी अनेक उपभेद हैं।[५१]

आभ्यन्तर तप के भी छह भेद हैं—[५२]

(७) प्रायश्चित्त—पूर्वकृत दोषो की आलोचना कर आत्मविशुद्ध्यर्थ प्रायश्चित ग्रहण करना।[५३] प्रायश्चित्त पाप का छेदन करता है और चित्त को विशुद्ध करता है।[५४]

प्रायश्चित्त तप के भी दस भेद हैं—(१) आलोचनार्ह (२) प्रतिक्रमणार्ह (३) तदुभयार्ह (४) विवेकार्ह (५) व्युत्सर्गार्ह (६) तपार्ह (७) छेदार्ह (८) मूलार्ह (९) अनवस्थाप्यार्ह (१०) पाराचितार्ह।[५५]

---

५१. इन्दियकसायजोगे, पडुच्च सलीणया मुणेयव्वा।
तह जा विवित्तचरिया, पन्नत्ता वीयरागेहिं॥
—उत्तरा० ३०।२८ नेमिचन्द्रीय टीका मे उद्धृत

५२. पायच्छित्त विणओ, वेयावच्च तहेव सज्झाओ।
झाण च विउस्सगो, एसो अब्भितरो तवो॥
—उत्तराध्यन ३०।३०

(ख) प्रायश्चितविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।
तत्त्वार्थ सूत्र अ० ९ सू० २०

(ग) स्थानाङ्ग ६ सू० ५५१

(घ) मूलाचार-वट्टकेर गा० ३६०

(ङ) प्रवचन सारोद्धार गा० २७०-७२

५३. आलोयणारिहाईय पायच्छित्त तु दसविह।
ज भिक्खू वहइ सम्म पायच्छित्त तमाहिय॥
—उत्तरा० ३०

५४. पाप छिनत्ति यस्माद् प्रायश्चित्तमिति भण्यते तस्मात्,
प्रायेण वापि चित्त विशोधयति तेन प्रायश्चित्तम्।
—दशवैकालिक १।१ हारिभद्रीया वृत्ति मे उद्धृत

५५. आलोयणपडिक्कमणे मीसविवेगे तहा विउस्सग्गे,
तवछेअमूलअणवट्ठया य पारचिए चेव।
—दशवैकालिक १।१ हारिभद्रीया वृत्ति मे उद्धृत

(८) विनय—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आदि सद्गुणो मे बहुमान रखना विनय है। विनय के सात प्रकार है—(१) ज्ञान का विनय, (२) श्रद्धा का विनय (३) चारित्र का विनय (४) मन-विनय (५) वचन-विनय (६) काय-विनय और (७) लोकोपचार विनय।[५६] इनके भी फिर अनेक भेद प्रभेद हैं।[५७]

(९) वैयावृत्य—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्षक, ग्लान, गण, कुल, सघ, साधु आदि की आहार आदि के द्वारा सेवा करना।[५८]

(१०) स्वाध्याय—विधिपूर्वक आत्म-विकासकारी अध्ययन

(ख) औपपातिक, सम० ३०
(ग) स्थानाङ्ग ७३३
(घ) भगवती शतक २५ उ० ७
(ङ) व्यवहार भाष्य गा० ५३ पृ० २०

५६. (क) भगवती २५।७
(ख) ठाणाङ्ग—५८५
(ग) औपपातिक
(ग) धर्म सग्रह अध्ययन ३, व्रतातिचार प्रकरण
(ङ) णाणे दंसणचरणे मणवइकाओवयारिओ विणओ।
णाणे पचपगारो मइणाणाईण सद्दहणं ॥
भत्ती तह बहुमाणो तद्दिट्ठत्थाण सम्मभावणया।
विहिगहणब्भासोवि अ एसो विणओ जिणाभिहिओ ॥
—दशवैकालिक १।१ हारिभद्रीया वृत्ति मे

५७ (क) भगवती २५।७
(ख) ठाणाङ्ग ७।३।५८५
(ग) दशवै० हारि० वृत्ति० १।१

५८. विशेष विवरण के लिए देखें, लेखक का 'सेवा . एक विश्लेषण' लेख।

स्वाध्याय है।[५९] इसके पांच प्रकार है—(१) वाचना, (२) पृच्छा (३) परिवर्तन—स्मरण, (४) अनुप्रेक्षा—चिन्तन, (५) धर्म-कथा।[६०]

(११) ध्यान—अध्यवसाय को स्थिर करना ध्यान है। चचल चित्त का किसी एक विषय मे स्थिर हो जाना ध्यान है।[६१] ध्यान के चार प्रकार हैं—(१) आर्त्त, (२) रौद्र, (३) धर्म, (४) शुक्ल।[६२] आर्त्त और

---

५९ "अज्झयणमि रओ सया"-अज्झयण सज्झाओ भण्णइ, तमि सज्झाए सदा रतो भविज्जति।

—दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि २८७

(ख) स्वाध्याये वाचनादौ

—दशवैकालिक, हारिभद्रीयटीका २३५

६० वायणा पुच्छणा चेव, तहेण परियट्टणा।
अणुप्पेहा धम्मकहा, सज्झाओ पंचहा भवे॥

—उत्तरा० ३०।३४

(ख) पचविहे सज्झाए प० त० वायणा, पुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा, धम्मकहा।

—स्थानाङ्ग ५।३।४६५

(ग) तत्त्वार्थ सूत्र ९।२५
(घ) भगवती २५।७०२
(ङ) औपपातिक ३०

६१. (क) एगग्ग मणसन्निवेसणाए णं भते ! जीवे किं जणयइ ?
एगग्गमणसन्निवेसणाए ण चित्तनिरोह करेइ।

—उत्तराध्ययन २९।२५

(ख) उत्तमसहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।

—तत्त्वार्थ सूत्र ९।२७

(ग) ज थिरमज्झवसाण त झाण।
(घ) ठाणाङ्ग ५।३।५११ टीका

६२. चत्तारि झाणा पं० तं० अट्टे झाणे, रोद्दे झाणे, धम्मे झाणे, सुक्के झाणे।

—ठाणाग ४।१।३०८

रौद्र ये दो ध्यान अप्रशस्त हैं। धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान प्रशस्त है।[६३] अप्रशस्त ध्यान को त्यागकर प्रशस्तध्यान मे आत्मा को स्थिर करना वस्तुत. ध्यान है।[६४]

इन चारो ध्यानो के भी अनेक भेद प्रभेद है।[६५]

(१२) व्युत्सर्ग—शरीर, सहयोग, उपकरण और खान-पान का त्याग करना और कषाय, ससार और कर्म का त्याग करना व्युत्सर्ग है।[६६]

व्युत्सर्ग तप दो प्रकार का है—(१) द्रव्य व्युत्सर्ग (२) और भाव व्युत्सर्ग।[६७] द्रव्य व्युत्सर्ग,—(१) शरीर व्युत्सर्ग,[६८] (२) गण-व्युत्सर्ग, (३) उपधि व्युत्सर्ग (४) और आहारव्युत्सर्ग रूप मे चार प्रकार का है। भावव्युत्सर्ग—(१) कषायव्युत्सर्ग[६९], (२) ससार व्युत्सर्ग (३) और कर्मव्युत्सर्ग रूप मे तीन प्रकार का है।

इस प्रकार तप के दो प्रकार बताये है। वाह्य तप मे शरीर-सम्बन्धी सभी साधना-नियम समा जाते हैं, और आभ्यन्तर तप मे

(ख) आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि।

—तत्त्वार्थ० ९।२९

६३. परे मोक्षहेतू।

—तत्त्वार्थ० ९।३०

६४. अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइं झाणाइ झाण त तु वुहा वए॥

—उत्तरा० ३०।३५

६५. स्थानाङ्ग ४।१।३०८

६६. औपपातिक, तपोऽधिकार।

६७. वाह्याभ्यन्तरोपध्यो.।

—तत्त्वार्थ० ९।२६

६८ सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सगो, छट्ठो सो परिकित्तिओ॥

—उत्तरा० ३०।३६

हृदय को विशुद्ध बनाने वाले आचारो का समावेश हो जाता है। अनशन और ध्यान दोनो का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत क्रम मे किया गया है। इस क्रम मे न केवल कष्ट सहन का विधान है और न कष्ट से पालयन कर चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न ही है। साधक के लिए सहिष्णुता और एकाग्रता दोनो अपेक्षित है। दोनो का सुमेल इस साधना क्रम मे है। पर अन्य परम्पराओ मे ऐसा सुनियोजित क्रम नही है। अन्य परम्पराओ ने जहाँ केवल काय-क्लेश और देह-दमन को महत्त्व दिया है,[70] वहाँ जैन परम्परा ने कायक्लेश और देहदमन[71] के साथ ही आभ्यन्तर तप को महत्त्व दिया है। जैन सस्कृति का यह वज्र आघोष रहा है कि बाह्य तप के साथ यदि आभ्यन्तर तप का मेल नही है तो वह बाह्य तप मिथ्या है। धन्य अनगार[72] की तरह ही

---

६९ दव्वे भावे अ तहा दुहा, विसग्गो चउव्विहो दव्वे।
गणदेहोवहिभत्ते, भावे कोहादि चाओ त्ति।
काले गणदेहाण, अतिरित्तासुद्धभत्तपाणाणं।
कोहाइयाण सययं, कायव्वो होई चाओ त्ति॥

—दशवैकालिक १-१ हारिभद्रीया वृत्ति

७०. लोकप्रतीतत्वात् कुतीर्थिकैश्च स्वाभिप्रायेणाऽऽसेव्यमानत्वात् बाह्य, तदितरच्चाऽऽभ्यन्तरमुक्तम्।

—उत्तराध्ययन ३०।७ नेमिचन्द्राचार्य वृत्ति

(ख) बाह्यद्रव्यापेक्षत्वाद् बाह्यत्वम्।१७
परप्रत्यक्षत्वात् १८
तीर्थ्यगृहस्थकार्यत्वाच्च ॥१६॥ अनशनादि हि तीर्थ्यगृहस्थैश्च क्रियते ततोऽप्यस्य बाह्यत्वम्।

—तत्त्वार्थ सूत्र ९।१९ राजवार्तिक

७१ खुहं पिवासं दुस्सेज्ज, सीउण्हं अरई भय।
अहियासे अव्वहिओ, देहे दुक्ख महाफल॥

—दशवैकालिक ८।गा० २७

७२. अनुत्तरोपपातिक वर्ग ३

तामली तापस[७३] और पूरण तापस[७४] ने उग्र तप किया था, किन्तु आभ्यन्तर तप के अभाव मे उनके विपुल तप को भगवान् महावीर ने अज्ञानतप कहा है। करोड़ो वर्षों तक अज्ञान-तप करने पर अज्ञानी जितने कर्मों को नष्ट कर पाता है, उतने कर्मों को ज्ञानी कुछ ही समय मे नष्ट कर देता है।[७५] एतदर्थ ही साधक को वाह्य तप करने के पूर्व आगमो का अध्ययन करना आवश्यक माना है।[७६] बाह्य तप क्रिया-योग का प्रतीक है और आभ्यन्तर तप ज्ञानयोग का। ज्ञान और क्रिया का समन्वय ही मोक्ष का मार्ग है।[७७] उपाध्याय यशोविजय जी ने एतदर्थ ही मुनि को बाह्य और आभ्यन्तर तप करने की प्रेरणा दी है।[७८]

महात्मा वुद्ध ने मज्झिम निकाय[७९] आदि मे जैन संस्कृति के तप

---

७३. भगवती, शतक ३। उद्देश० १

७४. भगवती, शतक ३ उद्दे० २

७५. ज अन्नाणी कम्म खवेइ, वहुयाहिं वासकोडीहिं।
त नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेण ॥

—संथार पइन्ना

(ख) उग्गतवेणण्णाणी ज कम्म खवदि भवहि वहुएहिं।
त णाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ अतोमुहुत्तेण ॥

—मोक्ष पाहुड-कुन्दकुन्द ५३

७६ तए ण से धन्ने अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अतिए सामाइयमाइयाइ एक्कारस अगाइ अहिज्जइ, अहिज्जित्ता सजमेण तवसा अप्पाण भावे माणे विहरइ।

—अनुत्तरौपपातिक वर्ग ३

७७. दोहिं ठाणेहिं अणगारे संपन्ने अणाइय अणवदग्ग दीहमद्ध चाउरंतसंसारकतार वीइवएज्जा, तं जहा-विज्जाए चेव, चरणेण चेव।

—स्थानांग २।१

(ख) ज्ञान क्रियाभ्या मोक्ष.।

७८. मूलोत्तरगुणश्रेणि, प्राज्यसाम्राज्यसिद्धये।
बाह्यमाभ्यन्तर चेत्थ, तप. कुर्यात् महामुनि.॥

—ज्ञानसार तपअष्टक ६

७९. मज्झिमनिकाय, उपालिसुत्त ५६

का उपहास किया है और उसकी निरर्थकता बताई है। पर ज्ञात होता है कि उन्होने केवल बाह्यतप को ही असली तप समझा, आभ्यन्तर तप की ओर उनका ध्यान ही नही गया। यदि गया होता तो भूलकर के भी वे जैन परम्परा के तप का उपहास नही कर सकते थे। जैन परम्परा मे स्पष्ट कहा गया है—कायक्लेश और देहदमन तभी तक सार्थक हैं जब उनका उपयोग आध्यात्मिक शुद्धि के लिए होता है।[८०] जो बाह्य तप आध्यात्मिक कलुषता पैदा करता है, वह तप नही, ताप है, उपवास नही, लघन है।[८१] उपवास का अर्थ है—पापो से निवृत्त होकर सद्गुणो मे रमण करना।[८२]

महात्मा बुद्ध और भगवान् महावीर की तप साधना मे यही मुख्य अन्तर रहा है। महात्मा बुद्ध ने छह वर्ष तक उग्र तप किया, तप से देह को जर्जरित बनाया,[८३] पर आभ्यन्तर तप के अभाव मे बाह्य तप उन्हे शान्ति प्रदान नही कर सका। अन्त मे उन्होने बाह्यतप का त्याग किया।[८४] किन्तु भगवान् श्री महावीर बाह्यतप के साथ सदा आभ्यन्तर तप करते रहे। अनशन के साथ आसन और ध्यान की स्पर्धा-सी चलती रही। उन्होने अपने साधना काल मे ऊकडू आसन, निषद्या, कायोत्सर्ग, प्रतिमाए एक बार नही, अपितु शताधिक बार

---

८० तदेव हि तप कार्यं, दुर्ध्यान यत्र नो भवेत्।
येन योगा न हीयन्ते, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च॥
—ज्ञानसार, तपअष्टक, उपा० यशोविजय

८१. कपायविपयाहार त्यागो यत्र विधीयते।
उपवास स विज्ञेय., शेप लघनक विदु॥

८२. उपावृत्तस्य पापेभ्य सहवासो गुणैर्हि य.।
उपवास स विज्ञेयो न शरीरस्य शोपणम्॥

८३. इहासने शुष्यतु मे शरीर, त्वगस्थिमास प्रलय च यातु।
अप्राप्य वोधि वहुकल्पदुर्लभा नैवासनात् कायमिद चलिष्यति॥
—दर्शन और चिन्तन, प० सुखलाल जी द्वि० खण्ड
—पृ० ९३ मे उद्धृत

८४ मज्झिम निकाय १२ महासीहनाद सूत्र० दण्डिका २० से २९ तक।

की।[८५] बारह बार उन्होने एक रात्रि की प्रतिमा अंगीकार की।[८६] जब भगवान् दृढभूमि के पेढाल ग्राम मे विचरण कर रहे थे तब उन्होने पोलाश चैत्य मे तीन दिन का उपवास किया। कायोत्सर्ग मुद्रा की। उनका तन आगे की ओर कुछ झुका हुआ था। एक पुद्‌गल पर दृष्टि केन्द्रित थी। आँखे अनिमेष थी। तन प्रणिहित था, इन्द्रियाँ गुप्त थी। दोनो पैर सटे हुए थे और दोनो हाथ प्रलम्बित थे। प्रस्तुत मुद्रा मे भगवान् ने एक रात्रि की महाप्रतिमा की।[८७]

भगवान् ने सानुलष्टि ग्राम मे भद्रा, महाभद्रा और सर्वतोभद्रा प्रतिमा नामक तपश्चर्या की। चारो दिशाओ मे चार-चार प्रहर तक कायोत्सर्ग करना भद्रा प्रतिमा है।[८८] इस प्रतिमा की आराधना करने वाला प्रथम दिन पूर्वदिशा की ओर मुख कर कायोत्सर्ग करता है, रात्रि

---

८५. तिन्नि सए दिवसाण अउणापन्न य पारणाकालो।
उक्कुडुअनिमिज्जाए, ठियपडिमाण सए बहुए॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा० ५३४

८६. दस दो अ किर महप्पा ठाइ मुणी एगराइय पडिम।
अट्ठमभत्तेण जई इक्किक्क चरमराई अ॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा० ५३१

८७ ततो भयव बहुमेच्छ दढभूमि गतो, तस्स बहि पोलास नाम चेइयं, तत्थ अट्ठमेण भत्तेण अपाणएण ईसिपब्भारगएण काएण, ईसीपब्भारगतो नाम ईसिं ओणतो कातो, एगपोग्गलनिरुद्धदिट्ठी अणिमिसनयणो, तत्थवि जे अचित्ता पोग्गला तेसु दिट्ठिं निवेसेइ, सचेत्तेहिं दिट्ठी अप्पाइज्जइ, जहा दुच्चाए, अहापणिहिएहि गत्तेहिं सव्विदिएहिं गुत्तेहिं दोवि पाए साहट्टु वग्घारियपाणी एगराइय महापडिम ठितो। एतदेवाह—
दढभूमी बहुमिच्छा पेढालग्गाममागओ भयवं।
पोलासचेइयम्मि ट्ठिएगराइं महापडिम॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा० ४९७ मलयगिरि वृत्ति पत्र २८८

८८. पूर्वादिदिक्चतुष्टये प्रत्येक प्रहरचतुष्टय—
कायोत्सर्गकरणरूपा अहोरात्रद्वयमानेति।
— स्थानाङ्ग सूत्र, सटीक प्र० भा० पत्र ६५-२

मे दक्षिण दिशा की ओर मुख कर कायोत्सर्ग करता है। द्वितीय दिन पश्चिम दिशा की ओर मुख कर कायोत्सर्ग करता है और रात्रि में उत्तर की ओर मुख कर कायोत्सर्ग करता है। भगवान् ने भद्रा के पश्चात् ही महाभद्रा प्रतिमा प्रारम्भ कर दी। उसमे चारो दिशाओ मे एक दिन रात कायोत्सर्ग किया जाता है।[८९] भगवान् ने चार दिन तक इसकी आराधना की। इसके पश्चात् सर्वतोभद्रा प्रतिमा का प्रारम्भ किया, इसमे दस दिन-रात लगे। दशो दिशाओ मे क्रमश अहोरात्र कायोत्सर्ग किया जाता है।[९०] इस प्रकार भगवान् सोलह दिन-रात तक सतत ध्यानरत और उपवासी रहे।[९१]

---

८९ महाभद्रापि तथैव, नवरमहोरात्रकायोत्सर्गरूपा अहोरात्रचतुष्टयमाना।
—स्थानाङ्ग वृत्ति प्र० भा० पत्र ६५-२

९०. सर्वतोभद्रा तु दशसु, दिक्षु प्रत्येकमहोरात्र—
कायोत्सर्गरूपा अहोरात्रदशकप्रमाणेति ॥
—वही, पत्र, ६५-२

९१ तदनन्तर सानुलट्ठिग्राम गत। तत्थ बाहिं भद्दपडिम ठिनो। केरिसिया भद्दा पडिमा? भन्नइ, पुव्वाभिमुहो दिवस अच्छइ, पच्छा रत्ति दाहिणहुत्तो, ततो बीए अहोरत्त अवरेण दिवस उत्तरेण रत्ति, एव छट्ठेण भत्तेण निट्ठिया, तहवि न चेव पारेइ, ततो अपारितो चेव महाभद्द पडिम ठाइ, सा पुण एव-पुव्वाए दिसाए अहोरत्त, एव चउसु वि दिसासु चत्तारि अहोरत्ता, एवमेसा दसमेण निट्ठिआ, तहावि न पारेइ, ताहे अपारितो चेव सव्वतोभद्द पडिम ठाइ, सा पुण सव्वतोभद्दा एव इदाए अहोरत्त, एव-अग्गेईए जम्माए नेरईए वारुणीए वायव्वाए सोमाए ईसाणीए विमलाए (तमाए) तत्थ जाइं उड्ढलोइयाइ दव्वाइं ताइ निज्झायइ, तमाए हेट्ठिल्लाइं, एयमेसा दसहिं दिसाहिं बावीसइमेण समप्पइ, एव च प्रथमाया प्रतिमाया चत्तारि यामचतुष्काणि, तद्यथा-एक पूर्वस्यामेकमपरस्यामेकदक्षिणस्यामेकमुत्तरस्या, द्वितीयस्यामष्टौ यामचतुष्काणि, तद्यथा द्वे यामचतुष्के पूर्वस्यामेव यावत् द्वे यामचतुष्के उत्तरस्यां, तृतीयस्या विंशतिर्यामचतुष्कानि, तद्यथा-द्वे यामचतुष्के पूर्वस्यामेव यावत् द्वे यामचतुष्के तमस्यामिति, ...

जव भगवान् को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ था, तव भी वे ऊकडू आसन से बैठे थे। दो दिन का उपवास था।[९२] और ध्यानान्तरिका मे वर्तमान थे।[९३] उनके जीवनदर्शन से स्पष्ट है कि वे तप से कभी भी ऊबे नही। इस उग्र तपश्चरण की बदौलत उनमे असाधारण सहिष्णुता उत्पन्न हो गई थी। यही कारण है कि घोर से घोर अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग एव परीषह[९४] उन्हे अपने ध्येय से विचलित नही कर सके।[९५] भगवान् ने अत्यन्त वीरता के साथ उन्हे सहन करके एक आदर्श उपस्थित कर दिया।

उपाध्याय श्री यशोविजय जी कहते हैं—"जैसे धनार्थी मनुष्य को शीत, ताप, क्षुधा आदि दुस्सह प्रतीत नही होता, वैसे ही तत्त्व ज्ञान के अर्थी साधक को भी किसी प्रकार का देहकष्ट दु:स्सह नही होता।[९६]

पडिमाभद्द महाभद्द सव्वओभद्द पढमिया चउरो।
अट्ठ य वीसाऽऽणदे वहुलिय तह उज्झिया दिव्वा॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा० ४६६, मलय० वृत्ति २८८

९२. जभिय वहि उजुवालिय तीरवियावत्त सामसाल अहे।
छट्ठेणुक्कुडुयस्स उ उप्पन्न केवलं नाण॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा० ५२५

९३. झाणंतरियाए वट्टमाणस्स। —आवश्यक निर्युक्ति ५२४ वृ० प० २६८

९४. धूली पिवीलिआओ उद्दंसा चेव तह य उण्होला।
विच्छुअ नउला सप्पा य मूसगा चेव अट्ठमया॥
हत्थी हत्थिणियाओ पिसाअए घोररूव वग्घो य।
थेरो थेरी सूओ आगच्छइ पक्कणो अ तहा॥
खरवाय कलकलिया, कालचक्क तहेव य।
पाभाइयमुवसग्गो, वीसइमे होति अणुलोमे॥
सामाणियदेविड्ढि देवो दाएइ सो विमाणगओ।
भणइ वरेह महरिसि! निप्फत्ती सग्गमोक्खाण॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा० ५०२–५०५

(ख) त्रिषष्ठि० १०।४।१८६–२८१

९५. आचारांग, श्रु० २, अ० १५, सू० १०१८

९६ धनार्थिना यथा नास्ति शीततापादि दुस्सहम्।
तथा भव-विरक्ताना तत्व-ज्ञानार्थिनामपि॥ —ज्ञानसार-तपाष्टक

अपितु ध्येय के माधुर्य का अनुभव हो जाने पर और उसमे गहरी लगन लग जाने पर देहदमन भी आनन्द की वृद्धि करने वाला होता है।[९७]

जैन संस्कृति ने तप का मुख्य ध्येय आत्माभ्युदय स्वीकार किया है। आचार्य जिनदास गणी महत्तर के शब्दो मे "तप वह है जो अष्ट प्रकार की कर्म ग्रन्थियो को तपाता है, उन्हे भस्म करता है।"[९८] भगवान् महावीर ने तप का फल व्युदान बताया है।[९९] व्युदान का अर्थ सचित कर्म-मल को साफ कर देना है। एक आचार्य ने तप का अर्थ इच्छाओ को रोकना किया है।[१००] आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—जैसे सदोष स्वर्ण, प्रदीप्त अग्नि द्वारा शुद्ध होता है, वैसे ही आत्मा तप अग्नि से विशुद्ध होता है। बाह्य और आभ्यन्तर तपस्याग्नि के प्रज्वलित होने पर यमी दुर्जर कर्मो को तत्क्षण भस्म कर देता है।[१०१]

---

९७. सदुपाय प्रवृत्तानामुपेयमधुरत्वत ।
ज्ञानिना नित्यमानन्दवृद्धिरेव तपस्विनाम् ॥

—ज्ञानसार, तपाष्टक

९८. तवो णाम तावयति अट्ठविहं, कम्मगंठि नासेतित्ति वुत्त भवइ।

—दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि पृ० १५

९९. तवेण भंते जीवे किं जणयइ ?
तवेण वोदाण जणयइ ॥

—उत्तराध्ययन अ० २९।२७

(ख) तवे वोदाणफले।

—भगवती, शतक २। उद्दे० ५

१०० इच्छानिरुन्धनम् तप.।

१०१ सदोषमपि दीप्तेन, सुवर्णं वह्निना यथा,
तपोऽग्निना तप्यमानस्तथा जीवो विशुध्यति।
दीप्यमाने तपोवह्नौ, बाह्ये चाभ्यन्तरेऽपि च,
यमी जरति कर्माणि, दुर्जराण्यपि तत्क्षणात्।

—नवतत्त्वसाहित्य सग्रह: श्री हेमचन्द्र सूरि-
रचित सप्ततत्त्व प्रकरण गा० १२९।१३२

उत्तराध्ययन मे बताया है 'कोटि भवो के सचित कर्म तप द्वारा जीर्ण होकर नष्ट हो जाते है।'[१०२] आचार्य श्री शय्यभव ने तप के ध्येय पर प्रकाश डालते हुए बताया—(१) इहलोकसबधी लाभ के निमित्त तप नही करना चाहिए (२) परलोक सबधी अभ्युदय के निमित्त तप नही करना चाहिए (३) कीर्ति, वर्ण, [लोक-व्यापी यश], शब्द [लोक-प्रसिद्धि] और श्लोक [स्थानीय प्रशसा] के लिए तप नही करना चाहिए। निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से तप नही करना चाहिए।[१०३]

आचार्य अकलक देव कहते हैं- जैसे किसान को खेती से अभीष्ट धान्य के साथ-साथ पयाल भी मिलता है, उसी तरह तप-क्रिया का प्रधान प्रयोजन कर्मक्षय ही है। अभ्युदय की प्राप्ति तो पयाल की तरह आनुषगिक है।[१०४]

तप स्वरूपत. एक है, किन्तु तपस्वी की भावना के भेद के कारण उसे सकाम और निष्काम, इन दो भागो मे विभक्त कर सकते है। लोकेषणा या लौकिक ऋद्धि-सिद्धि के उद्देश्य से किया जाने वाला तप सकाम तप कहलाता है और आत्म-उत्थान के लिए या कर्म निर्जरा के अर्थ जो तप किया जाता है, वह निष्काम तप है।

---

१०२. भवकोडि सचिय कम्म तवसा निज्जरिज्जइ।

—उत्तरा० ३०।६

१०३. चउव्विहा खलु तवसमाहा भवइ तजहा—

(१) नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा

(२) नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा

(३) नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेजा।

(४) नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा।

—दशवैकालिक अ० ६।उ० ४।४

१०४. गुणप्रधानफलोपपत्तेर्वा कृपीवलवत्। अथवा, यथा कृपीवलस्य कृपिक्रियाया पलालशस्यफलगुणप्रधानफलाभिसम्बन्ध. तथा मुनेरपि तपस्क्रियाया प्रधानोपसर्जनाभ्युदयनि.श्रेयसफलाभिसम्बन्धोऽभिसन्धिवशाद्दितव्य।

—तत्वार्थसूत्र ६।३, राजवार्तिक ५

आगम साहित्य का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि लौकिक कामना से तप करने वालो को लौकिक-सिद्धियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे चक्रवर्ती सम्राट् भरत का वर्णन है। उन्होने समग्र षट्खण्ड भारतवर्ष को प्रशासनिक दृष्टि से एक सूत्र मे ग्रथित करने के लिए, साथ ही आदिनाथ ऋषभ द्वारा स्थापित कल्याणकारी मर्यादाओ और व्यवस्थाओ को सर्वत्र लागू करने के लिए जो विराट् अभियान किया था, उसकी सफलता के लिए तेरह वार अष्टम तप की साधना की।[१०५] श्री कृष्णवासुदेव अपने लघुभ्राता गजसुकुमार को प्राप्त करने के लिए तप करते है।[१०६] गर्भवती रानी धारणी के दोहद को पूर्ण करने के अर्थ, दैवी सहायता प्राप्त करने के लिए, अभयकुमार तप करते हैं। तप के प्रभाव से देव वर्षाकाल न होने पर भी वर्षा-काल का मनोहर दृश्य उपस्थित[१०७] करता हे। इत्यादि उदाहरणो से स्पष्ट है कि तप से लौकिक कामनाएँ भी पूर्ण होती हैं। पर जैन सस्कृति ने इस प्रकार के तप को आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं दिया है। यही नही, भोगो की लालसा से किये जाने वाले तप को मोक्षप्राप्ति मे वाधारूप माना है। दशाश्रुत-स्कध मे स्पष्ट निर्देश है कि परभव मे अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के हेतु किया जाने वाला तप निदान है, जो साधना के लिए शल्य रूप है।[१०८]

गाधी जी कहते है— तप से जीवन निखरता है, मन मँजता है और काया कचनमय होती है।[१०९] काया के कचनमय हो जाने का

---

१०५. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, भरतचक्रवर्ती अधिकार।

१०६ अन्तकृतदशाङ्ग, तृतीय वर्ग

१०७. ज्ञातृधर्मकथाङ्ग १।१६

१०८ दशाश्रुतस्कध अ० १० निदान वर्णन,
(ख) स्थानाङ्ग ३।१८२,
(ग) समवायाङ्ग समं० ३

१०९. गांधी जी की सूक्तियाँ

आशय यही है कि तप से शुष्क शरीर मे एक अनूठा तपस्तेज दमक उठना है। तप एक प्रकार से शुद्ध की हुई रसायन है। कहा जाता है कि आज के वैज्ञानिको ने "बायोकेमिष्ट" औषधियो की शोध की है। उनका मन्तव्य है कि शरीर मे बारह प्रकार के तत्त्व होते है। उन तत्त्वो मे से किसी भी एक तत्त्व की न्यूनता होने से शरीर रुग्ण होता है। बारह प्रकार के क्षार तत्त्वो से रोगो को नष्ट कर शरीर को पूर्ण स्वस्थ और मस्त बनाया जा सकता है। तप के भी जो बारह प्रकार हैं, वे "बायो केमिष्ट" औषधियो के समान हैं। इन तपो का शरीर के किस तत्त्व पर कैसा प्रभाव पड़ता है, यह अनुसन्धान का विषय है। तथापि निस्सन्देह कहा जा सकता है कि इनके आचरण से कर्म रूपी रोग नष्ट होते है और आत्मा पूर्ण स्वस्थ होता है।

तप श्रमण संस्कृति की आत्मा है। तप और श्रमण सस्कृति के द्वैत की मान्यता को मैं मानस की सिकुडन मानता हूँ। तप सयम की पौध का फलना, फूलना ही श्रमण संस्कृति का विकास है।

आठ | अहिंसा और सर्वोदय

भारतीय चिन्तको ने जितनी गहराई से अहिंसा के सम्बन्ध मे चिन्तन किया है उतना विश्व के अन्य विचारको ने नही। अहिंसा आत्मा का आलोक है, जीवन की पवित्रता है, मन का माधुर्य है, मैत्री का मूलमन्त्र है। स्नेह, सौहार्द्र और सद्भावना का सूत्र है। धर्म, सस्कृति, समाज का प्राण है। साधना का पथ है।

हिंसा शब्द हननार्थक हिंसि धातु से बना है। हिंसा का अर्थ है—"प्रमत्त योग से दूसरो के प्राणो का अपहरण करना[1]"—दुष्प्रयुक्त मन, वचन या काया के योगो से प्राण व्यपरोपण करना[2]। और अहिंसा का अर्थ है—प्राणातिपात से विरति।[3]

जैन साहित्य मे हिंसा के लिए प्राणातिपात शब्द का प्रयोग हुआ है। इन्द्रियाँ, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वास और आयु ये प्राण है। प्राणातिपात का अर्थ है प्राणी के प्राणो का अतिपात करना—जीव से प्राणो का पृथक् करना। जीवो को समाप्त करना

---

१. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।

—तत्त्वार्थ सूत्र ७।१३

२. मणवयणकाएहिं जोएहिं दुप्पउत्तेहिं ज पाणववरोवण कज्जइ सा हिंसा।

—दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि प्र० अध्य०

३. अहिंसा नाम पाणातिवायविरती।

—दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि पृ० १५

ही केवल अतिपात नही है, किन्तु उनको किसी भी प्रकार का कष्ट देना भी प्राणातिपात है।[४]

उक्त व्याख्याओ मे दया और करुणा का पयोधि उछालें मार रहा है। स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक किसी भी प्राणी को मन, वचन और काया से कष्ट न पहुँचाना और उनके प्रति मैत्री भाव रखना अहिसा है। अहिसा हमे "आत्मवत् सर्वभूतेषु' का पाठ पढाती है।

अहिसा का महत्व प्रतिपादित करते हुए भगवान् श्री महावीर ने अहिसा को 'भगवती' कहा है।[५] और आचार्य समन्तभद्र ने अहिसा को 'परम ब्रह्म' कहा है।[६] महाभारतकार व्यास ने अहिसा को परम धर्म, परम तप, परम सत्य, परम सयम, परम दान, परम यज्ञ, परम फल, परम मित्र और परम सुख कहा है।[७]

---

४ (क) पाणातिवाता [तो] अतिवातो हिसण ततो एसा पचमी अपादाणे भयहेतुलक्खणा वा, भीतार्थाना भयहेतुरिति।

—दशवै० अगस्त्यसिह चूर्णि

(ख) पाणाइवाओ नाम इदिया आउप्पाणादिणो छव्विहो पाणा य जेसि अत्थि ते पाणिणो भण्णति, तेसि पाणाणमइवाओ तेहि पाणेहि सह विसजोगकरणत्ति वुत्त भवइ।

—दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि पृ० १४६

(ग) प्राणा-इन्द्रियादय तेपामतिपात. प्राणातिपात —जीवस्य महादु.खोत्पादनं, न तु जीवातिपात एव।

—दशवैकालिक, हारिभद्रीयावृत्ति प० १४४

५ एसा सा भगवती अहिसा

—प्रश्नव्याकरण

६. अहिसा भूताना जगति विदित ब्रह्म परमम्।

—बृहत् स्वयभू स्तोत्र

७. अहिसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा पर तप।
अहिसा परम सत्य यतो धर्म. प्रवर्तते॥
अहिसा परमो धर्मस्तथाऽहिसा परो दम।
अहिसा परम दानमहिसा परम तप.॥

आगम साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि महाव्रतो की त्रिविध परम्परा रही है। आचाराग मे अहिंसा, सत्य और बहिर्धादान इन तीन का उल्लेख है[8], स्थानाङ्ग[9] उत्तराध्ययन[10] प्रभृति मे अहिंसा, सत्य, अचौर्य और बहिर्धादान[11] इन चार याम [महाव्रतो] का उल्लेख है। उत्तराध्यन[12] दशवैकालिक[13] आदि आगमो मे अनेक स्थानो पर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच महाव्रतो का वर्णन है।

स्थानाङ्ग आदि के अनुसार भगवान् श्री ऋषभदेव ने तथा भगवान् श्री महावीर ने पांच महाव्रतात्मक धर्म का प्ररूपण

अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा पर फलम्।
अहिंसा परम मित्रमहिंसा परम सुखम्॥

—महाभारत, अनुशासन पर्व ११५–२३।११६।२८–२९

८ जामा तिण्णि उदाहिया।

—आचारांग ७।१।४००

९, स्थानाङ्ग २६६

१० चाउज्जामो अ जो धम्मो, जो इमो पच सिक्खओ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण च महामुणी॥

—उत्तरा० २३।२३

११ 'वहिद्धादाणाओ' त्ति वहिद्धा-मैथुन परिग्रहविशेष आदान च परिग्रहस्तयोर्द्वन्द्वैकत्वमथ वा आदीयते इत्यादान परिग्राह्य वस्तु, तच्च धर्मोपकरणमपि भवतीत्यत आह-वहिस्तात् धर्मोपकरणाद् वहिरिति। इह च मैथुन परिग्रहेऽन्तर्भवति, न ह्यपरिगृहीता योषिद् भुज्यत इति।

—स्थानाङ्ग वृत्ति २६६

१२. अहिंस सच्च च अतेणग च,
ततो य वभं चऽपरिग्गह च।
पडिवज्जिया पच महव्वयाइ,
चरिज्ज धम्म जिणदेसियं विऊ।

—उत्तराध्ययन, २१।२२

१३. दशवैकालिक, अ० ४

किया और अन्य बाईस तीर्थङ्करो ने चातुर्याम धर्म का निरूपण किया।[१४]

पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि सर्वत्र अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है। अहिंसा की विशद व्याप्ति मे ही सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि व्रतो का समावेश हा जाता है। जहाँ अहिंसा है वहाँ पाँचों महाव्रत है।[१५]

जैन दर्शन के मनीषो आचार्यों ने स्पष्ट किया है कि सत्य आदि जितने भी व्रत हैं वे सभी अहिंसा की सुरक्षा के लिए है।[१६] अहिंसा धान है और सत्य आदि उसकी रक्षा करने वाले बाडे है।[१७] अहिंसा यदि पानी है तो सत्य आदि उसकी रक्षा करने वाली पाल है।[१८]

---

१४ मज्झिमगमा बावीस अरहता भगवंता चाउज्जाम धम्म पण्णवेंति, त जहा-सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमण, एव मुसावायाओ वेरमण, सव्वातो अदिन्नादाणाओ वेरमण, सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमण।

—स्थानाङ्ग २६६

१५. अहिंसा-गहणे पंच महव्वयाणि गहियाणि भवंति। सजमो पुण तीसे चेव अहिंसाए उवग्गहे वट्टइ, सपुण्णाय अहिंसाय सजमो वि तस्स वट्टइ।

—दशवैकालिक चूर्णि प्र० अ०

१६. एक्क चिय एक्क वयं निद्दिट्ठं जिणवरेहिं।
सव्वेहिं पाणाइवायविरमण - सव्वसत्तास्स रक्खट्ठा।

—पञ्चसंग्रह

(ख) अहिंसैषा मता मुख्या स्वर्ग-मोक्ष प्रसाधनी।
एतत्संरक्षणार्थं च न्याय्य सत्यादिपालनम्।

—हारिभद्रीयाष्टक १६।५

(ग) अवसेसा तस्स रक्खट्ठा।

१७. अहिंसागस्यसरक्षणे वृत्तिकल्पत्वात् सत्यादिव्रतनाम्।

—हारिभद्रीयाष्टक १६।५

१८. अहिंसापयस. पालिभूतान्यन्यव्रतानि यत्।

—योगशास्त्र प्रकाश-२

योग साधना के आठ सोपान है।[19] उनमे प्रथम सोपान का प्रथम चरण है अहिंसा।[20] अहिंसा की मजिल को पूरी किये विना योग मे गति और प्रगति नही हो सकती। अहिंसा की साधना से ही स्नेह, सौहार्द और प्रेम का समुद्र ठाठे मारने लगता है। यहाँ तक कि अहिंसक के सन्निकट पहुँचकर हिंसक से हिंसक का भी वैर विस्मृत हो जाता है।[21] यही कारण है कि तीर्थङ्करो के समवसरण मे शेर और बकरी एक स्थान पर बैठते हैं।

देवर्षि नारद भक्तों को प्रेरणा देते हैं कि भगवान् के चरणों मे अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, दया, क्षमा, शान्ति, तप, ध्यान और सत्य ये आठ प्रकार के पुष्प अर्पित करो। इनमे भी सर्वप्रथम पुष्प अहिंसा है।[22]

जिस प्रकार हाथी के पैर मे सब प्राणियो के पैर समा जाते हैं, उसी प्रकार अहिंसा मे सब धर्मों के अर्थ व तत्त्व समा जाते हैं। ऐसा जानकर समझकर जो अहिंसा का प्रतिपालन करते है वे नित्य अमृत-मोक्ष मे वास करते हैं।[23]

---

१९ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावगानि ।

—पतंजलि, योगदर्शन २।२९

२०. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा ।

—पतजलि, योगदर्शन २।३०

२१ अहिंसा प्रतिष्ठाया तत्संनिधौ वैरत्याग ।

२२ अहिंसा प्रथम पुष्प, पुष्प इन्द्रियनिग्रह ॥
सर्वभूतदया पुष्पं, क्षमा पुष्पं विशेपत ।
शान्ति पुष्प तप पुष्प ध्यानपुष्प तथैव च ।
सत्यं अष्टविध पुष्प विष्णो प्रीतिकर भवेत् ।

—पद्मपुराण

२३. यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम् ।
सर्वाण्येवापि धार्यन्ते पदजातानि कौञ्जरे ॥
एव सर्वमहिंसाया धर्मार्थमपि धीयते ।
अमृत स नित्यं वसति योऽहिंसा प्रतिपद्यते ॥

—महाभारत १२।२३७।१८।१९

अभिप्राय यह है कि सभी धर्मों ने, पन्थो ने, सन्तो और महर्षियो ने एक स्वर से अहिंसा के महत्व को स्वीकार किया है।[२४] अहिंसा धर्म, सस्कृति, समाज और राष्ट्र के योगक्षेम का मूलाधार है। अहिंसा के अभाव मे धर्म, सस्कृति, समाज और राष्ट्र का कोई भी मूल्य नही है।

अहिंसा एक अमृतकलश के समान है, जिसका स्वाद सभी के लिए मधुर है, मधुरतम है।

अहिंसा और सर्वोदय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अहिंसा ही सर्वोदय की जन्मभूमि है। जो अहिंसक है उसके विराट हृदय मे ही सबके उदय, सबके उत्कर्ष, सबके विकास और सबके कल्याण की मगलमय भावना उद्बुद्ध होती है। सबके जीवनोत्थान की प्रशस्त भावना को प्राचीन भारतीय मनीषियो ने अहिंसक भावना कहा है। उसे ही आज के चिन्तको ने सर्वोदय कहा है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि महात्मा गान्धी सर्वोदय के उपदेष्टा थे, पर सर्वोदय शब्द के स्रष्टा नही थे। सर्वोदय शब्द का प्रयोग जैनाचार्य समन्तभद्र ने बहुत ही पहले किया है। उन्होने तीर्थङ्कर के शासन को सर्वोदय तीर्थ कहा है।[२५] तीर्थङ्कर का शासन एक ऐसा विशिष्ट और विलक्षण शासन है जिसमे प्राणीमात्र का उत्कर्ष है, सभी का विकास है। सभी का उदय होता है। वह समस्त आपदाओं का अन्तकर है।

सर्वोदय भारतीय चिन्तन का मूलस्वर है। "सब सुखी रहे, सब स्वस्थ रहे, सब कल्याणभागी बनें, कोई कभी दु खी न हो।[२६] "सब

---

२४. परम धर्म श्रुतिविदित अहिंसा।

—सत तुलसीदास

२५. सर्वापदामन्तकर निरत, सर्वोदय तीर्थमिद तवैव।

—समन्तभद्र

२६. सर्वे भवन्तु सुखिन, सर्वे सन्तु निरामया,
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दु.खभाग् भवेत्।

जीव मुझे क्षमा करे, मैं भी सबको क्षमा करता हूँ, सबके साथ मेरी मित्रता है, किसी पर भी मेरा वैर भाव नही है।"[२७] "सम्पूर्ण ससार का कल्याण हो, प्राणी एक दूसरे के हित मे सदा रत रहे, हमारे समग्र दोष नष्ट हो, सर्वत्र जीव सुखी रहे।"[२८]

विश्वात्मवाद सर्वोदय का आदर्श है और समन्वय उसकी नीति है। विश्वात्मवाद के द्वारा वह मानवनिर्मित समस्त विषमताओ को समता मे परिवर्तित करना चाहता है। एक व्यक्ति सुख के सागर पर तैरता रहे और दूसरा व्यक्ति दु.ख की भट्टी म झुलसता रहे, यह अनुचित है। वर्णव्यवस्था समाजकृत है, यह कृत्रिम है, स्वाभाविक नही, अत सर्वोदय सभी वर्गों का उत्कर्ष चाहता है। पर-उत्कर्ष मे ही स्व-उत्कर्ष निहारता है। सर्वोदय की निष्ठा राजनीति मे नही, लोकनीति मे है, शासन मे नही, अनुशासन मे है। अधिकार मे नही, कर्तव्य मे है। विषमता मे नही, समता मे है। भेद मे नही, अभेद मे है, अनेकत्व मे नही एकत्व मे है।

जहाँ अहिंसा है, मैत्री है, करुणा है, दया है, स्नेह है, सौहार्द है, सद्भावना है, वही सर्वोदय है और जहाँ सर्वोदय है वही शान्ति है, सुख है।

---

२७. खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेर मज्झ न केणइ॥
—आवश्यक सूत्र

२८. शिवमस्तु सर्वजगत
परहित निरता भवन्तु भूतगणा।
दोषा प्रयान्तु नाश
सर्वत्र सुखी भवतु लोक.।

नौ | सेवा : एक विश्लेषण

भारतवर्ष का चिन्तन मानव को सदा से यह सदेश प्रदान कर कर रहा है कि सेवा जीवन है, सेवा परम तप है,[1] सेवा प्रधान धर्म है। सेवा से बढकर कोई धर्म नही, तप नही।[2]

'सेवा' यह दो अक्षरो का लघु शब्द अपने आप मे एक विराट् अर्थ-गरिमा को सजोये हुए है। आज सेवा के अर्थ मे सहयोग शब्द व्यवहृत होता है किन्तु सहयोग और सेवा मे बहुत बड़ा अन्तर है। सहयोग विनिमय की भावना रहती है। सेवा में समर्पण होता है, सहयोग मे अलगाव का भाव निहित है। सहयोग के अन्तस्तल मे अहंकार हो सकता है, जब कि सेवा मे नम्रता के अतिरिक्त अन्य कोई भावना नही होती। वह विवेक पर आश्रित है अतः सेवा के अर्थ मे सहयोग शब्द का प्रयोग करना, सेवा की महान् अर्थसम्पदा को कम करना है।

१, पायच्छित्त विणओ, वेयावच्च तहेव सज्झाओ,
झाणं च विउसग्गो, एसो अब्भिन्तरो तवो।

—उत्तराध्ययन, ३०, गा० ३०

(ख) औपपातिक तपोधिकार।

(ग) प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।

—तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय ९, सू० २०

२. There is No greater religion than Seruice

जैनागमों मे सेवा के अर्थ मे 'वेयावडिय'[3] और 'वेयावच्च'[4] ये दो शब्द प्रयुक्त हुए है, जिनका सस्कृत रूप क्रमश· वैयापृत्य और वैयावृत्य है। वैयावृत्य का अर्थ है—जिस व्यक्ति को जिस प्रकार

३, (क) वेयावडिय करेह।

(ख) वेयावडिय करेंति।

—भगवती, शतक ५, उद्देशा ४ सू० १८७

(ग) एयाइ तीसे वयणाइं सोच्चा,
पत्तीइ भद्दाइ सुभासियाइ।
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए,
जक्खा कुमारे विणिवाडयन्ति॥

—उत्तराध्ययन अ० १२, गा०२४

(घ) पुव्वि च इण्हि च अणागय च,
मणप्पदोसो न मे अत्थि कोई।
जक्खा हु वेयावडिय करेन्ति,
तम्हा हु एए निहया कुमारा।

—उत्तराध्ययन,१२।३२

(ङ) गिहिणो वेयावडिय।

—दशवैकालिक, अ० ३, गा० ६

(च) गिहिणो वेयावडिय न कुज्जा।

—दशवैकालिक दूसरी चूलिका, गा० ९

४. (क) वेयावच्च तहेव सज्झाओ।

—उत्तराध्ययन अ० ३०।३०

(ख) उत्तराध्ययन अ० २९-४३

(ग) वेयावच्च वावडभावो इह धम्मसाहणणिमित्त,
अण्णाइयाण विहिणो सपायणमेस भावत्थो।

—स्थानाङ्ग ५।३।५११। टी० प० ३४६

(घ) भगवती २५।७। पृ० २८०

(ङ) औपपातिक सूत्र ३०। पृ० २६

की आवश्यकता हो उस का उसी प्रकार उचित सत्कार करना।[5] श्रमणो को शुद्ध आहार आदि से सहारा पहुँचाना।[6] अथवा 'द्रव्य' और भाव से अपना स्वय का तथा पर का उपकार करना।[7] संयमी की आपत्तियो को दूर कर संयम मे अपना अनुराग करना।[8]

---

५ आसेवणं जहाथाम, वेयावच्च तमाहियं।

—उत्तराध्ययन अ० ३०।३३

६. (क) व्यावृत्तस्य भाव कर्म्म वा वैयावृत्यं भक्तादिभिरुपष्टम्भ।

—स्थानाङ्ग ३।३।१८८ टी० प० १४५

(ख) व्यावृत्तभावो वैयावृत्य धर्म सावनार्थं अन्नादि-दानमित्यर्थ।

—स्थानाङ्ग ५।३।५११ टी० प० ३४६

(ग) 'वेआवच्चे' त्ति वैयावृत्यं भक्तपानादिभिरुपष्टम्भ'।

—औपपातिक टी० पृ० ८१

(घ) भगवती २५।७ पृ० २८०

(ङ) व्यावृत्तभावो वैयावृत्यम् उचित आहारादिसम्पादनम्।

—उत्तराध्ययन ३०।३३। बृहद्वृत्ति प० ६०८

(च) वैयावच्च वावडभावो, तह धम्मसाहणनिमित्त।
अन्नाइयाण विहिणा, सम्पायणमेम भावत्थो॥

—उत्तराध्ययन ३०।३३ श्री नेमिचन्द्र टीका

(छ) व्यावृत्तभावो वैयावृत्य।

—आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति प० ११६

(ज) व्यावृत्तस्य भावो वैयावृत्त्य, साधूना, मुमुक्षूणा प्रासुकाहारोपधिशय्यास्तया भेषजविश्रामणादिषु पूर्वत्र च व्यावृत्तस्य मनोवावकायै· शुद्धः परिणामो वैयावृत्यमुच्यते।

—तत्त्वार्थभाष्य, सिद्धसेन टीका

७. दव्वेण भावेण वा, ज अप्पणो परस्स वा,
उवकारकरण तं सव्व वेयावच्चं॥

—निशीथ चूर्णि ४।३७५

८ व्यापत्तिव्यपनोद. पदयो मवाहन च गुणरागात्।
वैयावृत्य यावानुपग्रहोऽन्योपि सयमिनाम्।

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार ११२

वैयावृत्य के दस प्रकार है—(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) शैक्ष, (४) ग्लान, (५) तपस्वी, (६) स्थविर, (७) सार्धमिक, (८) कुल (९) गण और (१०) सघ की वैयावृत्य करना।[९]

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर प्रभृति के प्रति हार्दिक श्रद्धा रखना, उनकी आज्ञा के अनुकूल प्रवृत्ति करना, सेवा है। तपस्वी को तप मे सहयोग प्रदान करना और नव दीक्षित श्रमण को श्रामण्य धर्म के विधानों से परिचित कराना, व सहधार्मिको को धर्म पथ पर अग्रसर करना, उनकी जीवन विधि के प्रत्येक चरण मे सहायता देना। कुल, गण, सघ के उत्कर्ष के लिए सतत सन्नद्ध रहना, रुग्ण व्यक्तियो को रोग के उपादानो से परिचित कराना तथा औपधोपचार से स्वस्थ

---

९ वेयावच्चे दसविहे पण्णत्ते त जहा—आयरिय वेआवच्चे, उवज्झायवेआवच्चे, सेहवेआवच्चे, गिलाणवेआवच्चे, तवस्सिवेआवच्चे थेरवेआवच्चे, साहम्मिअवेआवच्चे, कुलवेआवच्चे, गणवेआवच्चे, सघवेआवच्चे।

—भगवती शतक २५, उद्दे० ७ सू० ८०२

(ख) वेआवच्चरतिबहुले, वेयावच्च दसविहं त जहा—
आयरियउवज्झाने, थेर-तवस्सी-गिलाण-सेहाण।
साहम्मिय-कुल-गण, सघगय तमिय कायव्व ॥१॥

—आवश्यक चूर्णि, जिनदास पृ० १३४

(ग) आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति प० ११९

(घ) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति।

(ङ) आचार्योपाध्याय तपस्विशैक्षग्लानगणकुलसघसाधुमनोज्ञानाम्।

—तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ९ सू० २४

(च) नवतत्त्व प्रकरण सार्थ पृ० १२९

(छ) नवतत्त्वप्रकरण, सुमगला टीका-पत्र ११२–१

(ज) औपपातिक सूत्र।

(झ) स्थानाग।

(ञ) आयरिय उवज्झाए, थेर तवस्सी गिलाण सेहाण।
साहम्मिय कुल-गण, सघगय तमिह कायव्व ॥

—उत्त० ३०।३३ नेमिचन्द्रीय टीका

करना सेवा है। इनकी सेवा करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान करता है।[10]

पूर्वोक्त दस मे से प्रत्येक की तेरह प्रकार से वैयावृत्य की जा सकती है। अतएव वैयावृत्य के १३० भेद होते है। भाष्यकार[11] व चूर्णिकार[12] ने उसके तेरह प्रकार यो बतलाए है—(१) भक्त, (२) पान (३) शय्या, (४) संस्तारक—आसनादि प्रदान करना, (५) क्षेत्र का प्रतिलेखन करना, (६) पैरों का मार्जन करना, (७) ग्लान-रुग्णावस्था मे औषध का लाभ देना, (८) मार्ग मे थकावट आदि होने पर उसका निवारण करना, (९) राजादि के कोप भाजन बनने पर निस्तार करना, (१०) शरीर, उपधि आदि का संरक्षण करना, (११) अतिचार विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त लेना ११, ग्लान को समाधि उत्पन्न करना, (१३) तथा उच्चारप्रस्रवण आदि के पात्रो की व्यवस्था करना। ये सभी सेवा के विभिन्न प्रकार हैं।

---

१०. पचहि ठाणेहि समणे निग्गन्थे महानिज्जरए, महापज्जवसाणे भवइ, त जहा—अगिलाए आयरिय वेयावच्च करेमाणे, एव उवज्झाय वेयावच्च, थेरवेयावच्च तवस्सिवेयावच्च, गिलाणवेयावच्च करेमाणे।

पंचहि ठाणेहि समणे निग्गथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ तं जहा—अगिलाए सेहवेयावच्चकरेमाणे, अगिलाए कुलवेयावच्च कारेमाणे, अगिलाए सघवेयावच्च करेमाणे, अगिलाए साहम्मिय वेयावच्च करेमाणे।

—स्थानाग ५, सू० १३।उ० १

११ भत्ते पाणे सयणासणे य पडिलेह पायमच्छिमद्धाणे,
राया तेणे दण्डग्गहे य गेलण्ण मत्ते य।

—व्यवहार भाष्य

१२. त एक्केक्क तेरसविह त जहा (१) भत्ते, (२) पाणे, (३) आसण, (४) पडिलेहा, (५) पाद, (६) अच्छि, (७) भेसज्ज, (८) अद्धाण, (९) दुट्ठ, (१०) तेणे, (११) दंडग, (१२) गेलन्न (१३) मत्तंति,

— आवश्यक चूर्णि, जिनदास, पृ० १३४

भगवती सूत्र मे मानसिक, वाचिक और कायिक दृष्टि से सेवा के तीन भेद किये गए हैं।[13]

स्व-सेवा, पर-सेवा, और स्वपर सेवा के रूप मे सेवा के तीन प्रकार और भी है।+ सेवा का अर्थ आज्ञा का पालन भी है। जब व्यक्ति आज्ञा की आराधना करता है तब वह अपनी सेवा करता है। आत्म गुणो का विकास करना स्वय की सेवा करना है। दूसरे के आत्म गुणो के विकास मे सहायता करना तथा उन्हे समाधि प्रदान करना पर सेवा है। स्वय के सद्गुणो का विकास कर मानसिक समाधि प्राप्त करना और दूसरो को समाधि देना यह स्वपर-सेवा है।

वैयावृत्य जैन श्रमण की साधना का प्रमुखतम अग रहा है। स्वाध्याय भी उसकी साधना का अङ्ग है, पर स्वाध्याय से भी वैयावृत्य को प्रमुखताप्रदान की गई है। शिष्य प्रभात के पुण्य पलो मे सर्वप्रथम वस्त्र पात्रादि का प्रतिलेखन करता है और उसके पश्चात् गुरु के चरणारविन्दो मे प्रणिपातकर नम्र निवेदन करता है—गुरुदेव! अब मुझे क्या करना चाहिए ? आप चाहे तो मुझे वैयावृत्य मे सलग्न कर दीजिये या स्वाध्याय मे। गुरु, शिष्य को यदि वैयावृत्य मे नियुक्त कर देते है तो वह ग्लानिभाव का परित्याग कर सेवा करता है।[14]

जैन सस्कृति का श्रमण शरीर के प्रति ममत्वभाव से प्रेरित होकर आहार नही करता। शरीर का पालन-पोषण करना उसका

---

१३. तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासति एव वदामी।

—भगवती, शतक, २ उदेश, ५

+ (ख) स्थानाङ्ग, ठा० ३, सू० १८८।

१४. पुव्विल्लमि चउब्भागे, आइच्चमि समुट्ठिए।
भडय पडिलेहित्ता, वदित्ता य तओ गुरु॥
पुच्छिज्जा पजलिउडो, किं कायव्व मए इह।
इच्छ निओइउ भते, वेयावच्चे व सज्झाए॥
वेयावच्चे निउत्तेण, कायव्वमगिलायओ।

—उत्तराध्ययन अ० २६ गा० ८।६।१०

लक्ष्य नही है। वह छह कारणो से आहार ग्रहण करता है, उनमें द्वितीय कारण वैयावृत्य है। वैयावृत्य करने के पवित्र उद्देश्य से वह आहार-ग्रहण करता है[१५] क्योकि आहार के अभाव मे शरीर वैयावृत्य करने मे असमर्थ हो जाता है।

सेवा करने वालो के लिए आगमसाहित्य मे विशेष विधान किये गये है।

कल्पसूत्र के समाचारी प्रकरण मे एक विधान है कि वर्षावास-स्थित श्रमण को गृहस्थ के घर पर एक वार जाना कल्पता है। पुन-पुन गृहस्थ के घर जाना नही कल्पता। किन्तु आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, बालक, रुग्ण आदि श्रमणो की सेवा का प्रसग उपस्थित होने पर सेवानिष्ठ मुनि को अनेकवार गृहस्थ के यहाँ भिक्षा के लिए जाना कल्पता है।[१६]

श्रमण सस्कृति के श्रमणो के लिए आचाराग[१७], वृहत्कल्प[१८] और

---

१५. वेयण वेयावच्चे, इरियट्ठाए सजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए, छट्ठ पुण धम्मचिन्ताए॥

—उत्तराध्ययन २६।३

१६. वासावास पज्जोसवियाण निच्चभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पइ एग गोयरकाल गाहावइकुल भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पवेसित्तए वा, न ऽन्नत्थ आयरियवेयावच्चेण वा उवज्झायवेयावच्चेण, तवस्सिगिलाणवे० खुडएण वा अवजणजायएण।

—कल्पसूत्र सू० २४० पृ० ७१ पुण्यविजय जी सम्पादित

१७. अब्भुगते खलु वासावासे अभिपवुट्ठे वहवे पाणा वहुबीया समूया वहवे वीया अणुब्भिन्ना अतरा से मग्गा वहुपाणा, वहुवीया, जाव ससंताणगा अणोवकता पथा णो विण्णाया मग्गा सेव णच्चा णो गामाणुगाम दुइज्जेज्जा तओ सजयामेव वासावास उवल्लिएज्जा।

—आचारांग

१८ नो कप्पइ निग्गथाण निग्गथीण वा वासावासासु चरित्तए।

—वृहत्कल्प उद्दे० १, सू० ३६-३७

निशीथ[19] आदि आगम साहित्य मे यह स्पष्ट विधान है कि वह वर्षावास मे जीवो की दया के लिए, रक्षा के लिए, एक स्थान पर स्थिर होकर सयम साधना करे। वर्षाऋतु मे ग्रामानुग्राम विहार न करके पवन रहित स्थान मे रहे। आगमिक भाषा मे उसे प्रतिसलीनता तप कहा है—'वासासु पडिसलीणा।"[20] श्रमण प्रस्तुत विधान का उल्लघन कर यदि ग्रामानुग्राम विहार करता है तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[21]

स्थानाङ्ग सूत्र मे उपर्युक्त विधान से भिन्न द्वितीय विधान यह है कि श्रमण वर्षावास मे भी पाँच कारणो से विहार कर सकता है। उसमे एक कारण आचार्य उपाध्याय प्रभृति की सेवा है। आचार्य उपाध्यायादि का अन्यत्र वर्षावास है। उन्हे सेवा के लिए आवश्यकता है तो श्रमण विहार कर उनका सेवा के लिए जा सकता है, या वे जहाँ आदेश दें, सेवा के लिए, वहाँ जा सकता है।[22] सेवा के लिए

---

१९. निशीथ सूत्र, उद्देशा २, सू० ४१।

२० (क) सदा इ दियनोइ दियपरिसमल्लीणा विसेसेण सिणेहमघट्ट परिहरणत्थ णिवातलतणगता वासासु पडिसलीणा नो गामाणुगाम दूतिज्जति।

—दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि

(ख) वासासु पडिसलीणा नाम आश्रयस्थिता इत्यर्थ, तवविसेसेसु उज्जमति नो गामनगराइसु विहरति।

—दशवैकालिक जिनदास चूर्णि पृ० ११६

(ग) वर्षाकालेषु सलीना, सलीना इत्येकाश्रमस्था भवन्ति।

—दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति प० ११६

२१ जे भिक्खु पढमपाउसंमि गामाणुगाम दूइज्जइ दूइज्जत वा साइज्जइ।

—निशीथ उद्दे २, सू० ४१

२२ कप्पइ पचहि ठाणेहि णिग्गथाण णिग्गथीण वा पढमपाउससि गामाणुगाम दूइज्जत्तए तजहा णाणट्ठयाए, दसणट्ठयाए, चरित्तट्ठयाए, आयरियउवज्झायाण वा से वीसु भेज्जा, आयरिय उवज्झायाण वा बहिया वेयावच्च करणयाए।

—स्थानाङ्ग ५, स्थान

यदि श्रमण वर्षावास मे विहार करता है तो उसे प्रायश्चित्त नही आता। हाँ, सेवा का प्रसग समुपस्थित होने पर भी यदि वह विहार नही करता है तो प्रायश्चित्त का भागी है। कितना गहरा है सेवा का महत्त्व। आचार्य जिनसेन ने तो सेवा को तप का हृदय माना है।[२३]

परिहार विशुद्ध चारित्र को आराधना और साधना भी विना वैयावृत्य के सभव नही है। आगम साहित्य मे परिहार विशुद्ध चारित्र की विधि इस प्रकार है—"नौ पूर्वो तक, या दशवे पूर्व की तृतीय आचार वस्तु तक अध्ययन करने वाले नौ साधु, अध्ययन के पश्चात् तीर्थङ्कर या जिन्होने तीर्थङ्कर के सान्निध्य मे परिहारविशुद्ध चारित्र की साधना की है उन विशिष्ट साधको के सान्निध्य, मे परिहार विशुद्ध चारित्र को स्वीकार करते है। उन नौ श्रमणो मे से प्रथम चार श्रमण यदि उष्ण काल हुआ, तो उत्कृष्ट अष्टम भक्त की आराधना करते हैं। यदि शीत काल हुआ तो जघन्य षष्ट भक्त, मध्यम अष्टम भक्त और उत्कृष्ट दशम भक्त की आराधना करते हैं। यदि वर्षा काल हुआ तो जघन्य अष्टम भक्त, मध्यम दशम भक्त, और उत्कृष्ट द्वादश भक्त की तपश्चर्या करते है। अवशेष पाच श्रमणो मे से एक श्रमण प्रवचन करता है और चार श्रमण पांचो की सेवा करते हैं। तप करने वाले श्रमण पारिहारिक कहलाते है और वैयावृत्य करने वाले अनुपारिहारिक कहलाते हैं।[२४] प्रवचन करने वाला साधु, जो

---

२३ स वैयावृत्यमातेने व्रतस्थेष्वामयादिषु।
अनात्मतरको भूत्वा तपसो हृदयं हि तत्॥
—महापुराण ७२।११।२३३

२४. से किंत परिहारविसुद्धिय चरित्तारिया ? परिहार विशुद्धि चरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता त जहा—निव्विस्समाण परिहार विसुद्धिय चरित्तारिया। निव्विट्ठकाइयपरिहारविसुद्धियचरित्तारिया य। सेत्त परिहार विसुद्धिय चरित्तारिया।
—पन्नवणा पद १ पृ० १०५

त दुविगप्प निव्विस्समाण- निव्विट्ठकाइयवसेण।
परिहारियाऽणुपरिहारियाण कप्पट्ठियस्सवि य॥

गुरुस्थानीय होता है, कल्पस्थित कहलाता है। प्रस्तुत क्रम छह माह तक चलता है। उसके पश्चात् चारो तप करने वाले श्रमण वैयावृत्य करते हैं, वैयावृत्य करनेवाले तप तपते है। प्रवचन करने वाला श्रमण पूर्ववत् ही प्रवचन करता है। छह माह पूर्ण होने पर प्रवचन करने वाला तप करता है और आठ श्रमणो मे से एक प्रवचन करता है, शेप सातो श्रमण सेवा करते है।[२५] छह मास तक तप कर चुकने वाले निर्विष्टकायिक कहलाते है और जो तप कर रहे हो वे निविश्यमानक कहे जाते हैं।

आगम साहित्य मे अनेक स्थलो पर कडाई स्थविर का वर्णन है। कडाइ स्थविर सेवा के जीते जगाते सजग प्रहरी होते थे। सेवा करना उनके जीवन का प्रमुख ध्येय होता था। वे सेवा की प्रशस्त भावना से प्रेरित होकर सथारा और संलेखना करने वाले के साथ पर्वतादि पर जाते थे। कहा जाता है कि जब तक संथारा करने वाले का सथारा पूर्ण नही होता था तब तक वे स्वय भी आहारादि ग्रहण नही करते थे और अग्लान भाव से उसकी सेवा करते थे।[२६]

परिहारो पुण परिहारियाण सो गिम्ह-सिसिर-वासासु ।
पत्तेयतिविगप्पो चउत्थयाई तवो नेओ ।।
गिम्ह-सिसिर-वासासु चउत्थयाईणि वारसताइ ।
अड्ढोपक्कतिए जहण्ण मज्झिमुक्कोसयतवाण ।।
सेसा उ नियमभत्ता पाय भत्त च ताणमायाम ।
होइ नवण्हवि नियमा न कप्पए सेमय सव्वं ।।
परिहारिया-ऽणुपरिहारियाण कप्पट्ठियस्स वि य भत्त ।
छ छम्मासा उ तवो अट्ठारसमासिओ कप्पो ।

—विशेषावश्यक भाष्य, प्रथम भाग गा० १२७१ से १२७५ पृ० ४५८-४६०
प्रकाशक—आगमोदयसमिति

२५. पन्नवणा सूत्र, पृ० १०२-१०३ अमोलक ऋषि जी ।

२६. ' ''तहारुवेहि कडाइहि थेरेहि सद्धि विउल पव्वय सणियं सणियं दूरुहइ दूरुहित्ता '' ''''तएण ते थेरा भगवतो मेहस्स अणगारस्स अगिलाए वेयावडिय करेंति ।

—ज्ञातासूत्र, अ० १ सू० ४६

ओघनिर्युक्तिकार ने श्रमणों के लिए विधान किया है कि जब श्रमण शारीरिक दृष्टि से सक्षम हो जाय, भिक्षा लेने के लिए जाने में समर्थ हो जाय तो सर्वप्रथम उस साधक का कर्त्तव्य है कि ग्लान श्रमण की मन लगाकर सेवा करे।[२७]

निर्युक्तिकार ने स्पष्ट कहा है कि 'चरण-करण में प्रमाद का आचरण करने वाले, सयमीय सद्भाव से विमुख, पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, निर्ग्रन्थो की भी कारण वशात् सेवा की जा सकती है, तो फिर विवेकी जितेन्द्रिय मन, वचन और काया को गोपन करने वाले उद्यतविहारी मोक्षाभिलाषी की तो हर प्रयत्न से सेवा करनी ही चाहिए।[२८]

वृद्धो की सेवा करने वाले पुरुषो को ही चारित्र आदि सम्पदा प्राप्त होती है और क्रोधादि कषायो से कलुषित बना मन भी निर्मल हो जाता है।[२९]

गणधर गौतम के प्रश्न के उत्तर मे भगवान श्री महावीर ने कहा—वैयावृत्य से जीव तीर्थङ्कर नाम गोत्र का बध करता है।[30] केवल ज्ञान तो कोई भी विशिष्ट साधक प्राप्त कर सकता है, पर तीर्थङ्कर बनने के लिए लम्बी साधना करनी पडती है। साधना के जितने भी पथ हैं उन सभी मे सेवा का पथ सर्वश्रेष्ठ है। यद्यपि सेवा

---

२७. कुज्जा गिलाणगस्स उ पढमालिअ जाव वहिगमण।

—ओघनिर्युक्ति, ग्लान द्वार

२८. जइत्ता पासत्थोसण्ण कुसीलनिण्हवगाणपि देसिअ करण।
चरणकरणालसाण सब्भावपरमुहाण च॥

—ओघनिर्युक्ति ४८

२९. वृद्धानुजीविनामेव, स्युश्चारित्रादिसम्पद।
भवत्यपि च निर्लेप, मन क्रोधादिकश्मलम्॥

—ज्ञानार्णव प्र० १५ श्लोक १६

३०. वेयावच्चेण भते! जीवे किं जणयई!
वेयावच्चेणं जीवे तित्थयरनामगोत्तं कम्म निबधइ।

—उत्तराध्ययन अ० २६ प्रश्न० ४३

धर्म परम गहन माना गया है, उस पर चलते समय योगियो के कदम भी लडखडा जाते हैं[31] किन्तु यह विस्मरण नही होना चाहिए कि सुमनो की सुमधुर सौरभ वही प्राप्त होती है। कहावत भी है "करे सेवा, पावे मेवा।"

अन्य सभी गुण प्रतिपाती हैं, वे मानवजीवन के प्रान्त तक ही साथ रहते है, पर वैयावृत्य अप्रतिपाती है। वह दूसरे जन्म में भी साथ रहता है। सयम-साधना से भ्रष्ट होने पर अथवा मृत्यु प्राप्त होने पर चारित्र की चारु-चन्द्रिका नष्ट हो जाती है। स्वाध्याय के अभाव मे पठित शास्त्र भी विस्मृति के अचल में छिप जाते हैं किन्तु वैयावृत्य से प्राप्त शुभ फल कभी भी नष्ट नही होता। वह अवश्य ही प्राप्त होता है।[32]

महात्मा बुद्ध ने भी कहा है "एक तरफ मानव सौ वर्षों तक जगल में अग्नि की परिचर्या करे और दूसरी तरफ पुण्यात्मा की क्षणभर भी सेवा करे वह सेवा सौ वर्ष तक किये गये यज्ञ से कही उत्तम है।[33]

सदा वृद्ध महानुभावो की सेवा करने वाले और अभिवादनशील पुरुष की आयु, सौन्दर्य, सुख और बल ये चार वस्तुएँ वृद्धि को प्राप्त

---

३१ सेवाधर्म. परमगहनो योगिनामप्यगम्य ।

—पचतत्र-विष्णुशर्मा

३२ वेयावच्च नियय करेह, उत्तरगुणे धरिताण।
सव्व किल पडिवाई, वेयावच्च अपडिवाई ॥
पडिभग्गस्स मयस्स वा, नासइ चरण सुय अगुणणाए।
न हु वेयावच्च चिय, सुहोदय नासए कम्मं ॥

—ओघनिर्युक्ति ५३२।५३३

३३ यश्च वर्षशत जन्तुरग्नि परिचरेद् वने।
एक च भावितात्मान, मुहूर्तमपि पूजयेत् ॥
तदिद पूजन श्रेयो, न तु वर्षशत हुतम् ॥

—धम्मपद (सस्कृत छाया) १०७

होती है।[34] अत प्रत्येक साधक का कर्त्तव्य है कि वह श्रेष्ठ सद्गुणो के धारक महापुरुषो की निरन्तर सेवा करे।

हिन्दी साहित्य के एक सन्त कवि ने भी बड़ी सुन्दरता से कहा है कि "सन्त की सेवा करने से परमात्मा भी प्रसन्न होता है।"[35]

सेवा से ही ज्ञान का अखण्ड प्रकाश प्राप्त होता है। आगम-साहित्य का मन्थन करने वाला प्रत्येक जिज्ञासु यह जानता है कि गणधर गौतम और जम्बू आदि ने जो ज्ञान की निर्मल ज्योति प्राप्त की थी, उसके अन्तस्तल मे उनकी सेवा ही प्रमुख थी। सेवा से प्राप्त ज्ञान शतशाखी के रूप मे विस्तृत हो सकता है।[36]

ग्लान श्रमण की सेवा करना स्वय भगवान् की सेवा करने के समान है। गौतम महावीर से प्रश्न करते हैं—भगवन्! जो मनुष्य ग्लान की सेवा कर रहा है वह धन्य है अथवा जो मनुष्य दर्शन के द्वारा आपको स्वीकार कर रहा है वह धन्य है?

---

३४. अभिवादनसीलस्स, निच्च वुड्ढापचायिनो।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति, आयु वण्णो सुखं बलम्॥

—धम्मपद १०६

(ख) अभिवादनशीलस्य नित्य वृद्धोपसेविन।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्।

—मनुस्मृति, अध्याय २ श्लोक १२१

३५. सन्तन की भक्ति किया, प्रभु रीझत है आप।
जाका बाल खेलाइये, ताका रीझै बाप॥

(ख) ज्ञातासूत्र अ० १ सू० ३

(ग) भगवती श० ५, उ० ४, सू० ५

३६. जे आयरिय उवज्झायाण सुस्सूसा वयण करे।
तेसिं सिक्खा पवड्ढाति, जल-सित्ता इव पायवा॥

—दशवैकालिक अ० ९-२ गा० १२

उत्तर मे भगवान् कहते है—गौतम ! जो मनुष्य ग्लान की सेवा रहा है वह धन्य है।[37]

गौतम की जिज्ञासा ने पुन वाणी का रूप लिया "भगवन् ! आप यह किस हेतु से कह रहे है ?"

समाधान की भाषा मे उत्तर मिला—गौतम ! जो ग्लान की सेवा कर रहा है वह मेरी सेवा कर रहा है, और जो मेरी सेवा कर रहा है, वह ग्लान की सेवा कर रहा है। अरिहन्त का दर्शन अरिहन्त की आज्ञा का पालन करना है। अर्थात् अरिहन्त के दर्शन का सार है—अरिहन्त की आज्ञा का पालन करना। अत हे गौतम ! मैंने ऐसा कहा कि जो मनुष्य ग्लान की सेवा कर रहा है, वह दर्शन से मुझे स्वीकार कर रहा।[38] वही मेरा सच्चा उपासक है।

महात्मा बुद्ध ने भी एक रुग्ण भिक्षु को दर्द से छटपटाते देखकर आनन्द आदि प्रधान श्रमणो को सम्बोधितकर कहा था—आनन्द, सर्व-

---

३७. किं भन्ते ! जे गिलाण पडियरइ से धन्ने ? उदाहु जे तुम दसणेण पडिवज्जइ ?

गोयमा ! जे गिलाण पडियरइ।

—आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति पृ० ६६१

(ख) जो गिलाण पडियरइ सो म पडियरइ।
जो म पडियरइ सो गिलाण पडियरइ॥

— ओघनिर्युक्ति, स्टीक गा० ६२

(ग) जे गिलाणं पडियरइ से धण्णे

(घ) उत्तराध्ययन, सर्वार्थ सिद्धि, परीषह अध्ययन,

३८. से केणट्ठेण भन्ते एव वुच्चइ ?

जे गिलाण पडियरइ से म दसणेणं पडिवज्जइ,

जे म दसणेण पडिवज्जइ से गिलाण पडियरइत्ति आणाकरणसारं खु अरहंताणं दसणं, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एव वुच्चइ जे गिलाण पडियरइ से मं पडिवज्जइ जे म पडिवज्जइ से गिलाणं पडिवज्जइ।

—आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति पृ० ६६१-६२

प्रथम रुग्ण भिक्षुओ की सेवा करो। जिनको मेरी सेवा करनी हो वे पीडितो की सेवा करे।[39]

एक पाश्चात्य विचारक ने भी कहा है—गरीबो की सेवा ईश्वर की सेवा है।[40]

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम की जिज्ञासा का समाधान करते हुए वशिष्ठ ने कहा—जिस किसी भी तरह मन, वचन और काय से किसी की सेवा करना ईश्वरपूजा है।[41]

भगवान् का एक नाम दीनवन्धु है। उन्हे "दीनानाथ" भी कहते है। दीन और रुग्ण की सेवा करना साक्षात् जीवित भगवान् की सेवा करना है। नरसेवा ही नारायणसेवा है।

प्रश्न है कि जब सेवा का इतना गहरा महत्त्व है और जैन-साहित्य मे भी सेवा का इतना उल्लेख है तो जैन संस्कृति के श्रमण को तो नि सकोच भाव से सभी की सेवा करनी चाहिए, चाहे वह गृहस्थ हो या श्रमण हो।

उत्तर है कि जैन सस्कृति के श्रमण की अपनी मर्यादा है। उसका अपना कर्मक्षेत्र है। मर्यादा मे रहकर वह गृहस्थ की द्रव्य सेवा नही किन्तु भाव सेवा कर सकता है। भाव सेवा का महत्त्व भी कम नही है। यदि श्रमण अपने श्रमण-धर्म की मर्यादा को भूलकर गृहस्थ की द्रव्य सेवा करता है तो वह श्रमण के लिए अनाचार है।[42]

(ख) जो गिलाण पडियरइ से मज्झ णाणेण दमणेण चरित्तेण पडिवज्जइ —बृहत्कल्प सूत्र, लघुभाष्य

(ग) उत्तराध्ययन सर्वार्थ-सिद्धि, परीषह अध्ययन

(घ) आणाराहण दसण खु जिणाणं,

३६. विनय पिटक ८।७।६।का साराश,

४०. Service of poor is the service of GOD

४१. येन केन प्रकारेण, यस्य कस्यापि देहिन.।
सतोष जनयेद् राम!, तदेवेश्वरपूजनम्॥

४२. गिहिणो वेयावडिय,
—दशवैकालिक अ० ३ गा० ६

श्रमण का कर्त्तव्य है कि सयमशील श्रमण की सेवा करे। ग्लान साधु की सेवा करने से तीर्थ की अनुवर्तना होती है और तीर्थङ्कर देव की भक्ति होती।[43] आचार्य का भी कर्त्तव्य है कि सहधर्मी के रोगी होने पर उसकी यथा शक्ति सेवा करे।[44] जो सघ सेवा-शुश्रूषा की भावना को नही जानता है, उसे प्रश्रय नही देना है, जिस सघ के आचार्य अपने सघ के सदस्यो की सुख दु ख निवारण की विधि नही जानते, रोगी की चिकित्सा से अनभिज्ञ हैं वह सघ छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जाता है।[45]

सघसमुत्कर्ष के लिए अपेक्षित है कि सघ का प्रत्येक सदस्य सेवानिष्ठ हो। नन्दिषेण[46] मेघकुमार[47] वाहु,[48] और सुवाहु[49] मुनि

(ख) गिहिणो वेयावडिय न कुज्जा।

—दशवैकालिक दूसरी चूलिका गा० ६

(ग) 'गृहिणो' गृहस्थस्य वैयावृत्त्य गृहिभावोपकाराय तत्कर्मस्वात्मनो व्यावृत्तभाव न कुर्यात्, स्वपरोभयाश्रेय समायोजन दोषात्।

—दशवैकालिक-हारिभद्रीया वृत्ति प० २८१

४३ तित्थाणुसज्जणा खलु भत्ती य कया हवइ एव।

—बृहत्कल्पसूत्र, लघुभाष्य गा० १८७८

४४. साहम्मियस्स गिलायमाणस्स अहाथाम वेयावच्चे अब्भुट्ठित्ता भवई।

—दशाश्रुतस्कध, चतुर्थदशा

४५. उप्पण्णेण गेलाणे जो गणधारी न जाणई तेगिच्छ।
दोसं ततो विणासो सुह दुक्खा तेण उच्चना॥

—व्यवहार भाष्य ५।१२८

४६ उत्तराध्ययन टीका—कथा।

४७ अज्जप्पभिईण भते! मम दो अच्छीणि मोत्तूण।
सवसेसे काए समणाण निग्गंथाण निसट्ठे।

—ज्ञातृधर्म कथा अ० १

४८ आवश्यक चूर्णि पृ० १३३

(ख) आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति प० ११६

(ग) त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित्र १।१।६०६, आचार्य हेमचन्द्र कृत

की तरह संघ के प्रत्येक सदस्य के जीवन के कण-कण में सेवा की विराट् भावना अठखेलियाँ करती रहे। सेवा का प्रसग उपस्थित होने पर सच्चे सेनानी की तरह सदा तत्पर रहे, बगलें न झाँके। यदि वह झाँकता है तो प्रायश्चित्त का अधिकारी है।

जो श्रमण श्रमण की ग्लानता सुनकर भी उसकी उपेक्षा करता है तो उसे [सविस्तार] गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी होना पडता है।[५०]

यदि कोई समर्थ साधु बीमार साधु को छोडकर अन्य किसी कार्य मे लग जाय, बीमार की सार-सभाल न करे, तो उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।[५१]

रास्ते मे जाते हुए, गाँव मे प्रवेश करते हुए अथवा भिक्षा के लिए परिभ्रमण करते हुए श्रमण को यदि किसी मुनि की ग्लानावस्था की सूचना प्राप्त हो तो वह आवश्यक कार्य को छोड़कर उसके पास सेवा के लिए पहुँचे। यदि वह नही पहुँचता है तो उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[५२]

एक श्रमण विहार कर जा रहा है। उसे जिस स्थान पर पहुँचना है, वहाँ स्वगच्छ का अथवा परगच्छ का श्रमण ग्लान है, वहाँ पहुँचने

(घ) देखिए लेखक का 'ऋषभदेव एक परिशीलन' ग्रन्थ।

४९. आवश्यक चूर्णि, पृ० १३३

(ख) आवश्यक निर्युक्ति मलयगिरि वृत्ति।

(ग) आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति पृ० २१९

(घ) त्रिषष्ठि० १।१।९०६

५०. जो उ उवेह कुज्जा लग्गइ गुरुए सवित्थारे।

—बृहत्कल्प सूत्र भाष्य १८७५

५१. जे भिक्खू गिलाण सोच्चा णच्चा न गवेसइ, न गवेसंत वा साइज्जइ..... .आवज्जइ चउम्मासिय परिहार ठाणं अणुग्घाइय।

—निशीथ ९।३७

५२. सोऊण उ गिलाण, पंथे गामे य भिक्खवेलाए।
जइ तुरिय नागच्छइ, लग्गइ गरुय स चउमासे॥

—बृहत्कल्पसूत्र भाष्य १८७२

पर मुझे उनकी शुश्रूषा करनी पडेगी, इस भावना से यदि वह श्रमण उस स्थान को छोड़कर अरण्य मे होकर जाने का मार्ग ग्रहण करता है, अथवा जिस मार्ग से आया उसी मार्ग से पुन लौटने का प्रयत्न करता है तो उसे आज्ञा, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधना आदि दोष लगते है।"[५३]

यदि कोई श्रमण अपने साथी मुनि की अस्वस्थता की उपेक्षा कर तपश्चरण करता है, शास्त्र स्वाध्याय करता है तो वह भी प्रायश्चित्त का अधिकारी है। वह सघ मे रहने के अयोग्य है। सेवा से जी चुराना अपने आत्म गुणो का हनन करना है। और साथ ही सघीय मर्यादा की उपेक्षा करना है, जो सबसे बडा पाप है।

दशाश्रुतस्कन्ध, समवायाग और आवश्यक सूत्र मे महामोहनीय कर्म वन्धन के तीस प्रकार बताये हैं। अष्ट कर्म प्रकृतियो मे मोहनीय कर्म सबसे अधिक पतन का कारण है। जब दुरध्यवसाय की तीव्रता एव क्रूरता अधिक मात्रा मे बढ जाती है तब महामोहनीय कर्म का बध होता है, अर्थात् उत्कृष्ट सत्तर कोडाकोडी सागर तक की स्थिति वाले मोहनीय कर्म का बंध करता है। प्रस्तुत तीस भेदो मे बाईसवा और पच्चीसवा भेद सेवा न करने के सम्बन्ध मे है। सेवा न करने से, और सेवा के प्रति उपेक्षा रखने से आत्मा का कितना भयकर पतन होता है, वह इस से स्पष्ट है।

आचार्य और उपाध्याय की जो सम्यक् प्रकार से सेवा नही करता वह अप्रतिपूजक और अहकारी होने से महामोहनीय कर्म की उपार्जना करता है।"[५४]

---

५३ सोऊण उ गिलाण उम्मग्ग गच्छ पडिवह वावि।
मग्गाओ वा मग्गं, सकमई आणमाईणि॥

—बृहत्कल्प निर्युक्ति भाष्य १८७१

५४ आयरिय—उवज्झायाण, सम्म नो पडितप्पइ।
अप्पडिपूयए थद्धे, महामोह पकुव्वइ॥

—दशाश्रुत स्कन्ध, ९ दशा, गा० २२

जो शक्ति होने पर भी दूसरों की सेवा नही करता है और कहता है—'जब मैं रुग्ण हुआ था, तब इसने भी मेरी सेवा नही की थी। मै क्यो करू ? यदि वह व्यथा से व्यथित है तो भले ही हो, मुझे क्या गर्ज है ?' ऐसा विचार करने वाला भी महामोहनीय कर्म का बधन करता है।[५५]

आचार्य जिनदास गणी महत्तर ने सेवा को ही भक्ति माना है। आचार्य के सम्मान मे खडा होना, दण्ड ग्रहण करना, पाँव पोछना, आसन देना आदि जो सेवा है, वही भक्ति है।[५६]

राजेन्द्र कोपकार ने सेवा का अर्थ भक्ति और विनय किया है।[५७] उमास्वाति ने विनय के ज्ञान दर्शन, चारित्र और उपचार ये चार भेद किये है।[५८] इनमे उपचार का अर्थ आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थ सिद्धि मे आचार्य के पीछे चलना, सामने आने पर खड़ा होना, अंजलिबद्ध होकर

(ख) समवायाग सम० ३०

(ग) आवश्यक अ० ४

५५. साहारणट्ठा जे केइ, गिलाणम्मि उवट्ठिए।
पभू न कुणइ किच्चं, मज्झ पि से न कुव्वइ॥
सढे नियडी-पण्णाणे, कलुसाउल—चेयसे।
अप्पणो य अबोहीए, महामोह पकुव्वइ॥

—दशाश्रुत स्कन्ध, ९ दशा, गा० २५।२६

(ख) समवायाग सम० ३०

(ग) आवश्यक अ० ४

५६. अब्भुट्ठाणदंडग्गहण-पायपुच्छणासणप्पदाणगहणादीहि सेवा जा सा भक्ति।

—निशीथ चूर्णि

५७. सेवाया भक्तिर्विनय.।

—राजेन्द्र कोष

५८. ज्ञान दर्शन चारित्रोपचारा.।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ९, सू० २३

नमस्कार करना किया है। जो सेवा ही है। आचार्य कौटिल्य ने वैयावृत्य का अर्थ परिचर्या किया है।[५९]

सेवा आत्म-साधना का अपूर्व उपाय है, नर से नारायण बनने की श्रेष्ठ कला है। सेवा करने वाला, सेवा करानेवा ले से महान् होता है। शिर सेव्य है और पैर सेवक है। सेव्य ही सेवक के चरणों मे झुकता है। राम सेव्य थे, और हनुमान सेवक थे। हनुमान के उपामना गृह (मन्दिर) प्राय प्रत्येक गांव मे मिलते हैं, किन्तु राम के क्वचित् ही। हनुमान की यह लोक-प्रियता सिद्ध करती है कि सेव्य से भी सेवक अधिक जन-मन प्रिय होता है। गाधी जी के शब्दो मे "सेवा से बढकर व्यक्ति को द्रवित करने वाली और कोई चीज संसार मे नही है।[६०]

ज्ञातृधर्म कथा का एक मधुर प्रसंग है। सेवामूर्ति पथक मुनि की सेवानिष्ठा ने शैलकराजर्षि के जीवन को आमूलचूल परिवर्तित कर दिया। उन्हे न केवल द्रव्यनिद्रा से वल्कि भावनिद्रा से भी जागृतकर दिया था।[६१]

आज सेवा का नारा एक किनारे से दूसरे किनारे तक गूज रहा है। सेवको की भरमार है, पर सेवा मे जैसी चाहिए वैसी चमक पैदा नही हो रही है। इसका कारण है प्रेम और तन्मयता का अभाव। कर्त्तव्य की दृष्टि से जो सेवा की जाती है, उसमे समर्पण एव आत्मोत्सर्ग ही प्रमुख होता है। उसमे वदले की चाह नहीं होती। वह घडी के काटे की तरह निरन्तर चलती रहती है।

---

५९ तद्वैयावृत्यकाराणामर्धदण्ड । व्याख्या—तद्वैयावृत्यकाराणा तस्य वैयावृत्यकारा विशेषेण आसमन्तावर्तन्त इति। व्यावृत्त परिचारक. तस्य कर्म वैयावृत्य परिचर्या तत् कुर्वन्त परिचारका. तेषा अर्धदण्ड ।
कौटिल्नीय अर्थशास्त्र, अधिकरण २ प्रकरण २३।२०

६० गांधी जी की सूक्तियाँ पृ० १११

६१. णायाधम्मकहाओ श्रुत० १ अ० ५

प्रेम की जिस उर्वर भूमि से कर्त्तव्य का जन्म होता है वह कर्त्तव्य सेवा है। मा पुत्र की सेवा करती है। अपने आपको पुत्र को सेवा मे विस्मृत कर देती है। भूख प्यास भूल जाती है। एतदर्थ ही उसकी सेवा उच्च कोटि की गिनी गई है। जिस सेवा मे आत्म-भाव का अभाव होता है उसमे तोलने की बुद्धि रहती है, और जहाँ पर तोल है, वहाँ हृदय के माधुर्य का मोल कम हो जाता है। अतः भारतीय सस्कृति साधक के अन्तर्हृदय मे सेवा की सही ज्योति जगाती है और सेवक के हृदय मे आत्मार्पण की भव्य भावना पैदा करती है। अग्लान भाव से सेवा करने को उत्प्रेरित करती है।[६२]

---

६२. गिलाणस्म अगिलाए वेयावच्च करणयाए अब्भुट्ठेयव्व भवइ।

—स्थानाङ्ग, स्थान ८, सूत्र ६२

दस | धर्म का प्रवेशद्वार : दान

दान, धर्मरूपी भव्य-भवन का प्रवेशद्वार है।[1] हृदय की उदारता का पावन प्रतीक है। मन की विराट्ता का द्योतक है, जीवन के माधुर्य का प्रतिविम्ब है।

डुदान् धातु से अन् प्रत्य लगकर दान शब्द निष्पन्न हुआ है। जो दिया जाता है वह दान है।[2] आचार्य शकर ने दान का अर्थ सविभाग किया है।[3] आचार्य उमास्वाति ने—अपनी आत्मा और पर के अनुग्रह के लिए त्याग करना दान माना है।[4]

उक्त मान्यता द्वारा यह ध्वनित किया गया है कि दाता अपने दान से पर का ही उपकार नही करता वरन् स्वय भी उपकृत होता है। इस प्रकार दाता आदाता को उपकृत करता, है तो आदाता भी दाता को उपकृत करता है। आखिर आदाता ही तो दाता को दान धर्म का

---

१. प्रार्थना साधक को ईश्वर के मार्ग पर आधी दूरी तक पहुँचायेगी, उपवास महल के द्वार तक ले जायेगा और दान महल मे प्रवेश करायेगा।

—मुहम्मद

२. दीयते इति दान।

३. दान सविभाग।

—आचार्य शकर

४. अनुग्रहार्थ स्वस्यातिसर्गो दानम्।

—तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ७। सू० ३८

अवसर प्रदान करता है। दान की इस व्याख्या को हृदयंगम कर लेने वाले दाता के मन मे अहंकार उत्पन्न न होगा। और यह निरहकार भाव ही दान का आभूषण है। इसी से दान के पूर्ण फल की प्राप्ति होती है।

दान धर्म है।[५] दान शील, तप और भावना ये धर्म के चार आधार स्तम्भ है।[६] दान उनमे प्रथम है और सबसे अधिक आसान है। आज दिन तक जितने भी तीर्थङ्कर हुए हैं वे सभी सयम ग्रहण करने के पूर्व एक वर्ष तक सूर्योदय से लेकर प्रात कालीन भोजन तक एक करोड आठ लाख स्वर्ण मुद्राएँ दान देते रहे हैं।[७] वे एक वर्ष मे तीन अरब, अठासी करोड, और अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राओ का दान

---

५ दानं धर्म.।

—कौटिल्य

६. सो धम्मो चउभेओ, उवइट्ठो सयलजिणवरिंदेहिं।
दाण सील च तवो, भावो विअ तस्सिमे भेया ॥

(ख) दुर्गतिप्रपतज्जन्तु—धारणाद् धर्म उच्यते।
दान-शील तपो-भाव—भेदात् स तु चतुर्विध ॥

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १।१।१५२

(ग) दानं सील च तवो, भावो एव चउव्विहो धम्मो।
सव्वजिणेहिं भणिओ तहा दुहा सुअचरित्तेहिं ॥

—सप्ततिशतस्थान प्रक०, गा० ९६, सोमतिलक सूरि

७. सवच्छरेण होहिति, अभिनखमणं तु जिणवरिंदाण।
तो अत्थि सपदाण, पव्वत्ती पुव्वसूराओ ॥
एगा हिरण्णकोडी, अट्ठेव अणूणया सयसहस्सा।
सूरोदय-मादीयं, दिज्जइ जा पायरासोत्ति ॥

—आचारांग द्वि० श्रु० अ० २३ गा० ११२।११३

(ख) एगा हिरण्णकोडी, अट्ठेव अणूणगा सयसहस्सा।
सूरोदयमाईय, दिज्जइ जा पायरामाओ ॥

—आवश्यक निर्युक्ति गा० २३६ भद्रबाहु

(ग) त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र १।२।२३

देते हैं।[८] दान ग्रहण करने के लिए जो भी सनाथ, अनाथ, पथिक, प्रेष्य, भिक्षु आदि आजाते हैं उन्हे वे बिना भेद भाव के दान देते है।[९] सयम लेने के पश्चात् अन्य तीन धर्मों का आराधन हो सकता है पर दान नही दिया जा सकता है। अत तीर्थङ्कर प्रथम दान देकर ससार को दान देने का उद्बोधन देते हैं। वैदिक ऋषि के शब्दो मे उनका प्रस्तुत आचरण यही प्रेरणा देता है कि, "यदि तुम सौ हाथो से इकट्ठा करते हो तो हजार हाथो से बाँट दो।"[१०] दान करने से गौरव प्राप्त होता है, धन का संचय करने से नही। जल का दान करने वाला मेघ सदा ऊपर रहता है और सग्रह करने वाला समुद्र नीचे रहता है।[११] भर्तृहरि ने कहा है।—"दान, भोग और नाश ये तीन धन की गतियाँ है। जो न देता है और न भोगता ही है, उसका धन नष्ट हो जाता है।"[१२] और जब नष्ट हो जाता है तो धन का स्वामी मधु-

---

८ तिण्णेव य कोडिसया, अट्ठासीई अ होंति कोडीओ।
असिय च सयसहस्सा, एय संवच्छरे दिण्ण॥

—आवश्यक निर्युक्ति, गा० २४२

(ख) त्रिषष्ठिशलाकापुरुष चरित्र १।३।२४ प० ६८

(ग) आवश्यक भाष्य गा० ८५ पृ० २६०

९. तते ण मल्ली अरहा कल्लाकल्लि जाव मागहओ पायरासोति बहूणं सणाहाण य अणाहाण य पथियाण य पहियाण य करोडियाण य कप्पडियाण य एगमेग हिरण्णकोडी अट्ठ य अणूणाति सयसहस्साति इमेयारूव अत्थसपदाण दलयति।

—ज्ञातृधर्म अ० ८। सू० ७६

१०. शतहस्त समाहर सहस्र हस्त सकिर।

—अथर्ववेद

११. गौरव प्राप्यते दानान्न तु वित्तस्य सचयात्।
स्थितिरुच्चै. पयोदाना, पयोधीनामध स्थिति.॥

१२ दान भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

—नीतिशतक श्लो० ४३

मक्खी की तरह हाथ मलकर शिर धुनता हुआ पश्चात्ताप करता है।[13] इसके विपरीत जो उदारमना होते है वे कर्ण की तरह देने मे ही आनन्द की अनुभूति करते है। जिन आत्माओ को नीचे जाना होता वे धन को निम्न कार्यो मे खर्च करते हैं और जिनको ऊपर जाना होता है वे धन को सन्मार्ग मे व्यय करते हैं।

किसान पहले खेत को रेशम की तरह मुलायम करता है, उसके पश्चात् उसमे बीज बोता है। हृदय रूपी खेत को भी दान देकर मुलायम कीजिये, फिर अन्य व्रतादि रूपी बीज बोइये।

श्रावक का जीवन उदार होता है, हृदय विराट् होता है। उसके घर का द्वार तुङ्गिया नगरी के श्रावको की तरह सदा खुला रहता है।[14] जो भी अतिथि, अभ्यागत उसके द्वार पर आता है, उसका वह हृदय से स्वागत करता है और आवश्यक वस्तु प्रसन्नता से प्रदान करता है। देना ही उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य है। देने से समाधि उत्पन्न होती है और समाधि के कारण उसे भी समाधि प्राप्त होती है।[15]

आगम साहित्य का अध्ययन करने वाला विद्यार्थी सहज ही जान सकता है कि गणधर गौतम ने जब कभी भी किसी व्यक्ति को विपुल वैभव सम्पन्न देखा तब उन्होने भगवान् श्री महावीर के समक्ष यह

---

१३. देयं भोज ! धन धन सुकृतिभिर्नो सञ्चित सर्वदा।'
श्रीकर्णस्य बलेश्च विक्रमपतेरद्यापि कीर्तिः स्थिता।
आश्चर्यं मधुदानभोगरहित नष्ट चिरात् सञ्चितम्।'
निर्वेदादिति पाणिपादयुगलं, घर्षन्त्यहो मक्षिका ॥
—(कालीदास) चाणक्यनीति अ० ११

१४. ऊसिअफलिहे, अवंगुअदुवारे।
—भगवती शतक २, उद्दे० ५

१५. समणोवासए ण तहारूवं समणं वा जाव पडिलाभेमाणे तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा समाहिं उप्पाएति समाहिकारएणं तमेव समाहि पडिलभइ।
—भगवती शतक ७, उ० १, सू० २६३

जिज्ञासा प्रस्तुत की-भगवन् ! इस व्यक्ति ने पूर्वभव मे क्या दान दिया था जिसके कारण इसे अतुल सम्पत्ति सम्प्राप्त हुई है ?[१६] समाधान करते हुए भगवान् उसके दानसम्बन्धी पूर्वभव के सुनहरे संस्मरण सुनाते हैं ।[१७] दान से जीव साता वेदनीय कर्म का बन्धन करता है । +

दान के दिव्य प्रभाव से ही श्री ऋषभदेव के जीव ने और भगवान् श्री महावीर के जीव ने क्रमश धन्ना, श्रेष्ठी के भव मे[१८] और नयसार के भव मे[१९] सर्व प्रथम सम्यक्त्व की उपलब्धि की। दान से ही शालिभद्र ने अपरिमित एव स्वर्गीय सम्पत्ति प्राप्त की ।[२०]

---

१६ कि वा दच्चा ?

—सुखविपाक, अ० १

१७. देखिए सुखविपाक ।

भूतव्रत्यनुकम्पादानंसरागसयमादियोग क्षान्ति शौचमिति सद्वेद्यस्य ।

—तत्त्वार्थ ६।१३

१८. घणसत्थवाहघोसण, जइगमण अडवि वासठाणं च ।
बहु वोलीणे वासे, चिंता घयदाणमासि तया ।।

—आवश्यक निर्युक्ति गा० १६८

(ख) आवश्यक चूर्णि पृ० १३३

(ग) आवश्यक मलयगिरिवृत्ति प० १५८।१

(घ) आवश्यक-हारिभद्रीयावृत्ति प० ११५

(ङ) तदानी सार्थवाहेन, दानस्याऽस्य प्रभावत ।
लेभे मोक्षतरोर्बीजं, बोधिबीज सुदुर्लभम् ।।

—त्रिषष्ठि शलाकापुरुष चरित्र १।१।१४३

१९. दाणऽन्न पय नयण अणुकंप गुरुगकहणसम्मत्त ।

—आवश्यक भाष्य, गा० २

(ख) आवश्यक निर्युक्ति गा०१४३, १४४ प० १५२

(ग) त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र १०।१।३-२२

२० त्रिषष्ठि शलाका० ।१०।१०

दान श्रावक के जीवन का प्रधान गुण है ।[२१] द्वादशव्रतो मे अन्तिम व्रत अतिथिसविभाग व्रत है ।[२२] पण्डित राजमल्ल जी ने उसे सबसे बड़ा व्रत कहा है ।[२३] जो सविभाग नही करता उसकी मुक्ति नही होती ।[२४] श्रावक प्रतिदिन प्रात· तीन मनोरथो का चिन्तन करता है । उनमे प्रथम मनोरथ है—जिस दिन मैं अपने परिग्रह को सुपात्र की सेवा मे त्याग कर प्रसन्नता अनुभव करूँगा, ममता के भार से मुक्त बनूँगा, वह दिन मेरे लिए कल्याणकारी होगा[२५] श्रावको के लिए यह भी विधान है कि भोजन करने के पूर्व कुछ समय तक अतिथि की प्रतीक्षा करें । राजप्रश्नीय सूत्र मे सम्राट्प्रदेशी का वर्णन है । सम्राट् प्रदेशी के जीवन की तस्वीर केशीश्रमण के उपदेश से बदल जाती है । वह नास्तिक से परम आस्तिक बनता है । श्रमणोपासक बनते ही वह अपनी राज्य श्री को चार भागो मे विभक्त करता है । एक भाग से वह विराट् दानशाला खोलता है । जो भी श्रमण, ब्राह्मण, भिक्षु, राहगीर आदि आते हैं, उन्हे वह सहर्ष दान करता है ।[२६] इतिहासप्रसिद्ध सम्राट् कुमारपाल ने भी

---

२१. (क) धर्मबिन्दु, आचार्य हरिभद्र,
(ख) धर्मरत्न प्रकरण
(ग) योगशास्त्र, हेमचन्द्र,
(घ) श्राद्धगुण विवरण

२२. अतिथिसंविभागवए

—उपासक दशाग, अ० १

२३. अतिथिसविभागाख्यं, व्रतमस्ति व्रतार्थिनाम् ।
सर्वव्रतशिरोरत्नमिहामुत्र सुखप्रदम् ॥

२४. असविभागी न हु तस्स मोक्खो । दश० अ० ६

२५. स्थानाङ्गसूत्र ३।४।२१

२६ अह ण सेयवियानगरीपामोक्खाइ, सत्त गामसहस्साइं चत्तारि भागे करिस्सामि । एग भागं बलवाहणस्स दलइस्सामि, एगं भागं कोट्ठागारे छुभिस्सामि, एगं भाग अन्तेउरस्स दलइस्सामि, एगेणं भागेणं महई-महालयं कूडागारं सालं करिस्सामि । तत्थणं बहूहिं पुरिसेहिं दिन्न-

आचार्य श्री हेमचन्द्र के प्रवचनपीयूष का पानकर परमार्हत का विरुद पाया और असहायो के भोजन, वस्त्र के निमित्त सत्रागार की स्थापना की। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने एक मठ का भी निर्माण कराया था।[२७] जैन श्रावक भामाशाह, जगडूशाह और खेमादेदराणी की दानवीरता किसी से छिपी नही है, जिन्होने राष्ट्र के लिए सर्वस्व समर्पण कर दिया था। वे श्रमणोपासक आनन्द की तरह ही समाज के लिए मेढी-स्तम्भ आधार रूप थे, आँख के समान पथ-प्रदर्शक थे, और भोजन के समान आलम्बन रूप थे।[२८] यदि आपका स्वधर्मी बन्धु आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक सकटग्रस्त है, उसे समय पर खाने को नही मिल रहा है पहनने को कपडे नही मिल रहे है, रहने को झोंपडी नसीब नही है, उस समय आप यदि उसकी दीनता पर हँसते हैं तो आप भी उसी बादशाह के खानदान के है, जो नगर को आग मे झुलसता देखकर भी बंशी बजाया करता था। यदि आप उसकी स्थिति को देखकर भी उधर ध्यान नही देते हैं, तो मिट्टी के लौदे के समान है। यदि आप उसे केवल टुकुर-टुकुर निहारते हैं तो पशु के समान है। यदि आप उसे सहायता देते हैं, उस गिरे हुए को ऊपर उठाते है तो मनुष्य है, श्रावक है। एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है—जीवन का अर्थ ही दान है।[२९] प्रार्थनामन्दिर मे जाकर प्रार्थना के लिए सौ बार हाथ जोडने के बजाय दान के लिए एक बार हाथ खोलना अधिक महत्त्वपूर्ण है।[३०] अत विचार किये बिना देते जाओ।[३१] हाथ क

भइभत्त वेयणेहि विउल असण४ उवक्खडावेत्ता बहूण समण माहण-भिक्खु-याण पथियपहियाण पडिलाभेमाणे "

—रायपसेणिय

२७. कुमारपाल प्रतिबोध, सोमप्रभाचार्य

२८. मेढिभूए आहारे आलबणे चक्खुमेढिभूए

उपासकदशाग अ० १

२९. Life means giving

३०. One hand opened in charity is worth a hundred in Prayer,

३१. Give without a thought.

शोभा दान देने से है, न कि रत्नजटित कंगन पहनने से।[32] भारतीय साहित्य में हाथ को कमल की उपमा दी है।[33] उसे 'कर-कमल' कहते हैं। हाथ तभी कमल बनता है जब उसमे से दान की मन-मोहक सुगन्ध निकलती है। देना एहसान नही है, यह जीवन का ताना-बाना है। ताना बाने से स्थित है और बाना ताने से। यदि दोनो का सहयोग नष्ट हो जायेगा तो दोनो केवल सूत रह जायेंगे।

भारतवर्ष के ऋषियो का चिन्तन कहता है कि दान दो, पर देने वाले को दीन-हीन और दरिद्र समझकर मत दो। यदि दीन-हीन और दरिद्र समझ कर दोगे तो उसमे अहकार का विष मिल जायेगा, जो दान के ओज को नष्ट कर देगा। अत. लेने वाले को भगवान् समझकर दो। भक्त मन्दिर मे पहुँचता है, मूर्ति के सामने मोहनभोग, और नैवेद्य चढाता है। वह भगवान् को भूखा और दीन-हीन समझकर अर्पण नही करता, किन्तु विश्वम्भर समझकर देता है। "हे प्रभो! यह सभी तुम्हारा है और तुम्हे ही समर्पण कर रहा हूँ"[34] यह कितनी गहरी और ऊँची भावना है। अर्पण मे कितना आनन्द और उल्लास है।

पुत्र पिता को भोजन अर्पण करता है तो उसमे भी यही भावना है। भूखे है, दो-ऐसा सोचकर नही देता, किन्तु 'पितृदेवो भव' समझकर देता है। वैसे ही प्रत्येक आत्मा को परमात्मा समझकर दो, बादलो की तरह अर्पण कर दो। बादल आकाश से पानी नही लाते किन्तु भूमण्डल से ही ग्रहण करते हैं। बादलो के पास जो एक-एक बूँद का अस्तित्व है वह इसी भू-मण्डल का है, इसी से लिया और इसी को अर्पण कर दिया। तुम्हारी चीज तुम्हे ही समर्पित है। इस अर्पण मे एहसान नही, किन्तु प्रेम है। अहकार नही, विनय है।

यदि आप भाग्यवान् है तो अपने भाग मे से भाग देना सीखिए। आपकी सम्पत्ति मे समाज का भी भाग है। यदि भाइयो के हिस्से हो

---

३२. दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन।

३३. दानामृत यस्य करारविन्दे।

३४. त्वदीय वस्तु गोविन्द, तुभ्यमेव समर्प्यते।

रहे हो और आपको अपना भाग नही मिलता है, तो आप कितने बेचैन होते है ? किन्तु समाज का भाग, जो आपके पास है, उसे देने के लिए बेचैन होते है या नही ?

भारतीय संस्कृति के एक मननशील मेधावी सन्त ने कहा—'जो अर्पण करता है वह देवता है 'देवै सो देवता और लेवै सो लेवता।' सूर्य निरन्तर प्रकाश देता है अत वह देवता है। जिसमे निरन्तर अर्पण करने की शक्ति है वह देव है। मराठी भाषा मे 'दान' को देव कहा है। जिसके अन्तर मे देवत्व विद्यमान है वह देता है।

प्राचीन युग मे आचार्य दीक्षान्त भाषण मे शिष्य से कहते थे—"वत्स ! तुम गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने के लिए जा रहे हो। तुम्हारे यहाँ कोई अतिथि आये तो श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से न देना प्रसन्नता से देना, नम्रता से देना, पर भय से न देना, सहानुभूति और प्रेम से देना।[३५] पद्मपुराणकार ने कहा-यदि शत्रु भी घर पर आजाय तो उसे भी अर्पण करो। किसी भी वस्तु के लिए इन्कार न करो।[३६] जो दिया जाता है वह मीठा होता है और जो लिया जाता है वह कड़ुवा होता है। वृक्ष अपनी इच्छा से जो फल देता है वह कितना मधुर होता ? पर जो वलात् लिया जाता है उसमे मधुरता कहाँ होती है ?

दान एक वशीकरण मत्र है, जो सभी प्राणियो को मोह लेता है, पर को भी अपना बना लेना है। अत प्रतिदिन दान दीजिए,[३७]

---

३५. श्रद्धया देयम् ! अश्रद्धयाऽदेयम् ! श्रिया देयम्।
ह्रिया देयम् ! भियाऽदेयम् ! सविदा देयम् ॥

तैत्तिरीय उपनिषद् १।११

३६ शत्रावपि गृहायाते नास्त्यदेयं तु किंचन।

—पद्मपुराण

३७ दानेन सत्वानि वशीभवन्ति, दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम्।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानात्तस्माद्धि दान सततं प्रदेयम् ॥

—धर्मरत्न

श्रद्धा से अर्पण कीजिए।[३८] दान से ही अमरपद प्राप्त होता है।[३९]

दान के विज्ञापन की आवश्यकता नही है। किसान खेत मे जो बीज बोता है, उसे खुला नही रखता, मिट्टी से ढँक देता है। यदि बीज मिट्टी से ढँकता नही है तो उससे अकुर नही उगता। वह नष्ट हो जाता है। वैसे ही दान को भी ढँकिए, उसे गुप्त रहने दीजिए, उसका विज्ञापन न कीजिये। एक विचारक ने कहा है, 'जो मानव अपने हाथ से दान देता है वह देता नही, पर अपने हाथ से इकट्ठा करता है।[४०] एक अन्य पाश्चात्य विचारक ने लिखा है कि-बहुत अधिक देने से उदारता सिद्ध नही होती, किन्तु आवश्यकता के समय सहायता प्रदान करना ही सच्ची उदारता है।[४१] दरिद्रों को दीजिये, ऐश्वर्यसम्पन्न व्यक्तियो को देना तो स्वस्थ और प्रसन्न व्यक्ति को औषध प्रदान करने के समान है।[४२] गजे व्यक्ति को जिस प्रकार कंघी देना, और अन्धे व्यक्ति को दर्पण देना निरर्थक है, वैसे ही अनावश्यक और अनुपयोगी वस्तुओ का दान भी निरर्थक है। ज्ञातृधर्म कथा का प्रसग है कि-नागश्री ने दीर्घ तपस्वी धर्म रुचि अनगार को कडुए तुम्बे का शाक दिया[४३], और कठोपनिपद् का प्रसग है कि वाजिश्रवा ऋषि

---

३८. दानं ददन्तु सद्धाय, सील रक्खन्तु सव्वदा।
भावनाभिरुता होन्तु, एतं बुद्धान सासन॥—महात्मा बुद्ध

३९. दक्षिणावन्तो अमृत भजन्ते। —ऋग्वेद

४०. The hand that gives gathers

४१. Liberality does not consist in giving much, but in giving at the right moment

४२. दरिद्रान् भर कौन्तेय! मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।
व्याधितस्यौषध पथ्य, नीरुजस्य किमौषधम्?
—हितोपदेश

४३. तएण सा नागसिरी माहणी धम्मरुइ एज्जमाण पासइ२ तस्स सालइ यस्स''''एडणट्ठयाए (निसरणिट्ठयाए) हट्ठतुट्ठा उट्ठाए उट्ठेइ२ जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ,२ त सालइय '' धम्मरुइस्स अणगारस्स पडिग्गहसि सव्वमेव निस्सिरइ
—ज्ञातृधर्म कथा, अध्ययन १६ वां

ने वृद्ध गाएँ ब्राह्मणों को समर्पित की।[४४] यह दान था, या दान का उपहास था? इसे ही 'मरी बछिया बाम्हन के नाम' कहते हैं।

दान सुख की कुंजी है। जैन दर्शन ने लाभालाभ की दृष्टि से चित्त, वित्त और पात्र की महत्ता पर प्रकाश डाला है। द्रव्य, देय और पात्र की शुद्धता से ही दान म चमक पैदा होती है।[४५] तीनो मे एक की भी न्यूनता होने पर उत्कृष्ट फल की उपलब्धि नही हो सकती। जैन दर्शन की भाँति बौद्ध दर्शन ने भी दान के तीन उपकरण माने हैं—(१) दान की इच्छा (२) दान की वस्तु, (३) और दान लेने वाला।

एक समय श्रावस्ती मे कौशलराज प्रसेनजित ने महात्मा बुद्ध से कहा—भन्ते! किसे देना चाहिए? उत्तर मे बुद्ध ने कहा—महाराज! जिसके मन मे श्रद्धा हो।[४६] द्वितीय प्रश्न किया-भते! किसको देने से महाफल होता है? उत्तर दिया-महाराज शीलवान् को दिये गये दान का महाफल होता है।[४७]

वैदिक धर्म ने भी देश, काल, और पात्र की महत्ता स्वीकार की है।[४८] जैसे मोदक के निर्माण मे घी, शक्कर, और मेदे की आवश्यकता होती है वैसे ही दान के लिए भी चित्त, वित्त, और पात्र की आवश्यकता है।

---

४४ कठोपनिषद

४५. दव्वसुद्धेणं, दायगसुद्धेण, पडिग्गहसुद्धेण, तिविह तिकरणसुद्धेणं दाणेण

—भगवती श० १५

४६ सयुत्त निकाय, 'इस्सत्थ सुत्त' ३।३।४

४७. सयुक्त निकाय, इस्सत्थ सुत्त ३।३।४

४८. देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विक विदु.।

—गीता अ० १७ श्लो० २०

स्थानाङ्ग मे भावना आदि के भेद की दृष्टि से दान के दश भेद बताये हैं।[४९]

(१) अनुकम्पादान—दीन, अनाथ, दरिद्र, दुःखी, रोगी, शोकग्रस्त प्राणियो पर अनुकम्पा करके देना।[५०]

(२) संग्रहदान—अभ्युदय या आपत्ति के अवसर पर सहायता हेतु देना। यह दान अपने स्वार्थ के लिए दिया जाता है, अत वह मोक्ष का कारण नही है।[५१]

(३) भयदान—राजा, मंत्री, पुरोहित, पुलिस प्रभृति के भय से देना।[५२]

(४) कारुण्यदान—पुत्र आदि स्वजन के वियोग से व्यथित होकर उसके नाम से देना। जिससे उसका परभव सुधर जाय।[५३]

४९, दसविहे दाणे पण्णत्ते त जहा—
अणुकपा संगहे चेव, भये कालुणिते ति य।
लज्जाते गारवेण च, अधम्मे पुण सत्तमे॥
धम्मे य अट्ठमे वुत्ते, काहीति त कतति त॥
—स्थानाङ्ग अ० १० सू० ७४५

५० कृपणेऽनाथदरिद्रे, व्यसनप्राप्ते च रोगशोकहते।
यद्दीयते कृपार्थादनुकम्पा तद्भवेद्दानम्॥
—स्थानाङ्ग १०।३ सू० ७४५ टीका

५१. अभ्युदये व्यसने वा, यत् किञ्चिद्दीयते सहायतार्थम्।
तत्संग्रहतोऽभिमत, मुनिभिर्दानं न मोक्षाय॥
—स्थानाङ्ग १०।३ सू० ७४५ टीका

५२. राजारक्षपुरोहितमधुमुखमावल्लदण्डपाशिषु च।
यद्दीयते भयार्थात्तद्भयदानं बुधैर्ज्ञेयम्।
—स्थानाङ्ग १०।३, सू० ७४५ टीका

५३, कारुण्य शोकस्तेन पुत्रवियोगादिजनितेन तदीयस्यैव तल्पादे. स जन्मान्तरे सुखितो भवत्विति वासनातोऽन्यस्य वा यद्दान तत्कारुण्यदानं, कारुण्यजन्यत्वाद् वा दानमपि कारुण्यमुक्तम् उपचारादिति॥
स्थानाङ्ग उ० ३। सू० ७४५ टी०

(५) लज्जादान—जनसमूह की बीच बैठे हुए व्यक्ति से जब कोई माँगने लगता है, उस समय देने की इच्छा न होते हुए भी लज्जा के वशीभूत होकर देना।[५४]

(६) गौरवदान—यश प्राप्ति के लिये नटो को, पहलवानो को, अपने स्नेही सम्बन्धियो को गौरवपूर्वक देना।[५५]

(७) अधर्मदान—अधर्म की पुष्टि करने के लिए, गंदी वासनाओ से प्रेरित होकर हिंसा, असत्य, स्तेय, वेश्यागमन, आदि दुष्कृत्यो के पोषण हेतु देना।[५६]

(८) धर्मदान—जिनका जीवन त्याग और वैराग्य से परिपूर्ण हो, जिनके लिए तृण, मणि-मुक्ता एक समान हो ऐसे सुपात्र को धर्मभाव से देना। यह दान कभी व्यर्थ नही जाता।[५७]

(९) करिष्यतिदान—भविष्य मे प्रत्युपकार की दृष्टि से जो दिया जाता है। अर्थात् भविष्य मे इनसे मुझे सहायता प्राप्त होगी, इस अभिप्राय से देना।[५८]

---

५४. अभ्यर्थित. परेण तु यद्दान जनसमूहगत ।
परचित्तरक्षणार्थं, लज्जायास्तद्भवेद्दानम् ॥
—वहीं १०।३, सू० ७४५ पृ० ४९६

५५ नटनर्त्तमुष्टिकेभ्यो दानं सम्बन्धिबन्धुमित्रेभ्य ।
यद्दीयते यशोऽर्थं, गर्वेण तु तद्भवेद्दानम् ॥
—स्थानाङ्ग १०।३।७४५। पृ० ४९६

५६ हिंसानृतचौर्योद्यतपरदारपरिग्रहप्रसक्तेभ्यः ।
यद्दीयते हि तेषा, तज्जानीयादधर्माय ॥
—स्थानाङ्ग १०।३।७४५ पृ० ४९६

५७. समतृणमणिमुक्तेभ्यो, यद्दानं दीयते सुपात्रेभ्य ।
अक्षयमतुलमनन्त, तद्दान भवति धर्माय ॥
—स्थानाङ्ग १०।३।७४५ पृ० ४९६

५८ करिष्यति कञ्चनोपकार ममायमितिबुद्ध्या ।
तद्दान तत्करिष्यतीति दानमुच्यते ॥
—स्थानाङ्ग १०।३।७४५ टीका पृ०४९६

(१०) कृतदान—पूर्वकृत उपकार से उऋण होने के लिए देना।[५९]

इन दानो मे कौनसा दान हेय, ज्ञेय, और उपादेय है, यह तो पाठक स्वय समझ सकते है। स्थानाङ्ग की तरह अंगुत्तर निकाय मे भी दान के इसी प्रकार के आठ भेद बताये है।[६०]

धर्मदान मे भी देय वस्तु की दृष्टि से तीन, चार, आठ, दश, और चौदह भेद किये गए हैं। तत्त्वार्थ भाष्य मे स्पष्ट निर्देश है कि देय वस्तु न्यायोपार्जित और कल्पनीय होनी चाहिए। जो न्यायोपार्जित और कल्पनीय है, वही अन्नपान आदि द्रव्य देय है।[६१] अन्यत्र भाष्यकार ने यह भी लिखा है कि अन्न आदि सारजातीय और गुणो का उत्कर्ष करने वाले हो।[६२]

आचार्य अमितगति ने लिखा है कि वही देय वस्तु प्रशस्त है जिससे राग का नाश होता है, धर्म की वृद्धि होती है, संयम साधना को पोषण मिलता है, विवेक जागृत होता है, आत्मा उपशान्त होता है।[६३] वस्त्र, पात्र, और आश्रयादि भी रत्नत्रय की वृद्धि के लिए देना श्रेयस्कर है।[६४]

---

५६. शतश कृतोपकारो, दत्तं च सहस्रशो ममानेन।
अहमपि ददामि, किंचित्प्रत्युपकाराय तद्दानम्॥
—स्थानाङ्ग १०। उ० ३, सू० ७४५

६०. अंगुत्तर निकाय ८।३१।३२

६१ न्यायागताना कल्पनीयानामन्नपानादीनां द्रव्याणा...... .दानं।
—तत्त्वार्थ सूत्र ७।१६ भाष्य

६२. द्रव्यविशेषोऽन्नादीनामेव सारजातिगुणोत्कर्षयोग.।
—तत्त्वार्थ सूत्र ७।३४ का भाष्य

६३. अमितिगति श्रावकाचार, परिच्छेद ६।४६ से ८०

६४. वस्त्रपात्राश्रयादीनि, पराण्यपि यथोचितम्।
दातव्यानि विधानेन, रत्नत्रितयवृद्धये॥
—अमितिगतिश्रावकाचार, परिच्छेद ६

त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र[६५] मे धर्मरत्न प्रकरण[६६] मे और सर्वार्थसिद्धि में दान के तीन भेद किये हैं। ज्ञानदान, अभयदान और धर्मोपग्रहण दान।

आचार्य समन्तभद्र,[६७] आचार्य पूज्यपाद,[६८] आचार्य अकलक[६९] और आचार्य विद्यानन्दी[७०] ने आहारदान, औषधदान, उपकरण दान और आवास दान—ये दान के चार प्रकार किये हैं।

आचार्य कार्तिकेय,[७१] आचार्य जिनसेन,[७२] सोमदेव,[७३]

---

६५ तत्र तावद् दानधर्मस्त्रिप्रकार प्रकीर्त्तित ।
ज्ञानदानाऽभयदान धर्मोपग्रहदानत ॥
—त्रिशष्ठि०, आचार्य हेमचन्द्र १।१।१५३

६६ दाण च तत्थ तिविह, नाणययाण च अभयदाण च ।
धम्मोवग्गहदाण च, नाणदाण इम तत्थ ॥
—धर्मरत्न प्रकरण, देवेन्द्रसूरि टीका गा० ५२ पत्र २२३।
त्यागो दानम् । तत्त्रिविधम्—आहारदानमभयदानं ज्ञानदानं चेति ।
—सर्वार्थ सिद्धि

६७. आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन ।
वैयावृत्य ब्रुवते ! चतुरात्मत्वेन चतुरस्रा ॥
—समीचीनधर्मशास्त्र अध्याय ५ श्लो० ११७

६८ अतिथये सविभागोऽतिथिसंविभाग. ।
स चतुर्विध. भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात् ॥
—तत्त्वार्थ सूत्र ७।२१ की सर्वार्थ सिद्धि टीका

६९ तत्त्वार्थसूत्र, ७।२१ राजवार्तिक टीका

७०. तत्त्वार्थसूत्र, ७।२१ श्लोकवार्तिक टीका

७१. भोयणदाणेण सोक्ख, ओसहदाणेण सत्थदाण च ।
जीवाण अभयदाण, सुदुल्लह सव्वदाणाण ॥
—द्वादश अनुप्रेक्षा., धर्म अनुप्रेक्षा ३६२

७२ देयमाहारभैषज्यशास्त्राभयविकल्पितम् ।
—महापुराण पर्व० २०, श्लो० १३८ पृ० ४५७
—प्र० भारतीय ज्ञानपीठ काशी

७३ अभयाहारभैषज्यश्रुतभेदात् चतुर्विधम् ।
—यशस्तिलक, आश्वास ८

देवसेन,[७४] वसुनन्दि,[७५] और गुणभद्र ने[७६] आहार दान, औषध-दान, शास्त्र दान और अभयदान—यों दान के चार भेद किये हैं।

उपदेश माला,[७७] तथा दान प्रदीप[७८] मे दान के (१) वसति दान, (२) शयनदान, (३) आसनदान, (४) भक्त दान, (५) पानी दान, (६) भैपज्य दान, (७) वस्त्र दान, (८) पात्र दान ये आठ भेद किये हैं।

आवश्यक चूर्णि मे[७९] दान के (१) यथा प्रवृत्तदान (२) अन्नदान, (३) पानदान, (४) वस्त्रदान, (५) औपध दान, (६) भैपज्यदान (७) पीठ दान, (८) फलकदान (९) शय्यादान, (१०) सस्तारक दान—इस प्रकार दस भेद कहे गए है।

---

७४. अभयपयाणं पढमं विदिय तह होइ सत्थदाणं च।
तइय ओसहदाणं आहारं चउत्थ च॥
—भावसंग्रह ४८९

७५. आहारोसह-सत्थाभयभेओ ज चउव्विह दाण।
तं कुच्चइ दायव्व, णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे॥
—वसुनन्दि श्रावकाचार २३३

७६. आहाराभयभैपज्यशास्त्रैर्देयं चतुर्विधम्।
—गुणभद्रश्रावकाचार १५३

७७. (१) वसही, (१–३) सयणासण, (४) भत्त, (५) पाण, (६) भेसज्ज, (७) वत्थ, (८) पत्ताइ।
— उपदेशमाला दो घट्टी टीका, गा० २४० प० ४२०।२

७८. दानप्रदीप सटीक पत्र ६४।२

७९. जो अहापवत्ताण अण्णपाणवत्थओसहभेसज्जपीढफलगसेज्जासंथारगादीणां सविभागो सो अहासविभागो भवति।
—आवश्यक चूर्णि, पृ० २०५

आवश्यक सूत्र,[८०] उपासक दशांग,[८१] सूत्रकृताङ्ग, भगवती आदि मे (१) अशन, (२) पान, (३) खादिम, (४) स्वादिम, (५) वस्त्र, (६) प्रतिग्रह, (७) कम्बल, (८) पादपोंछन (९) पीठ, (१०) फलक (११) शय्या (१२) सस्तारक (१३) औषध (१४) भैषज्य, इन चौदह देय वस्तुओ का निर्देश करके प्रकारान्तर से दान के चौदह भेद कहे गए हैं।

बौद्ध साहित्य मे भी विविध दृष्टियो से दान के भेद निरूपित किये गये हैं।

महात्मा बुद्ध ने (१) आमिपदान [इन्द्रियो के विषयो का दान] (२) और धर्मदान, ये दो भेद किये हैं। इन दोनो दानो मे धर्मदान मुख्य है।[८२]

फलदान की दृष्टि मे दान के तीन भेद है (१) दृष्ट धर्म वेदनीय, (२) परिपक्व वेदनीय, (३) और अपरापर्य वेदनीय।

पात्र भेद की दृष्टि से भी दान के तीन प्रकार हैं—(१) पुद्गल दान, (२) संघदान, (३) और उद्देश्यदान।

दान देने वाले के तीन प्रकार है (१) दानदास, (२) दान सहाय, (३) और दानपति।

दायक और दानपात्र की उत्कृष्टता व निकृष्टता के कारण दान की विशुद्धता भी चार प्रकार की है—

---

८०. समणे निग्गंथे फासुएण एसणिज्जेण असणपाणखाइमसाइमेण वत्थपडिग्गहकम्बलपायपुंछणेण पाडिहारिएण पीढफलगसिज्जासंथारएण ओसहभेसज्जेण य पडिलाभेमाणे विहरामि।

—आवश्यक सूत्र

८१. कप्पइ मे समणे निग्गन्थे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थकम्बलपडिग्गहपायपुंछणेणं पीढफलगसिज्जासंथारएणं ओसहभेसज्जेण य पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए

—उपासकदशा—१।५८

८२ अगुत्तर निकाय २।१३

(१) दायक द्वारा दान विशुद्धि,
(२) दान पात्र द्वारा दान विशुद्धि,
(३) दायक और दानपात्र दोनो द्वारा दान विशुद्धि,
(४) दायक और दानपात्र दोनो द्वारा दान विशुद्धि।

सिंह सेनापति के प्रश्न के उत्तर मे महात्मा बुद्ध ने कहा—दान से लोक मे चार लाभ प्राप्त होते है—(१) दाता लोकप्रिय होता है (२) सत्पुरुषो का ससर्ग प्राप्त होता है (३) कल्याणकारी कीर्ति प्राप्त होती है। (४) किसी भी सभा मे वह विज्ञ की तरह जा सकता है और परलोक मे स्वर्ग मे जाता है। यह अदृष्ट लाभ है।[८३]

कालदान (?) के भी चार भेद बताये है। (१) आगन्तुक को, (२) जाने वाले को (३) ग्लान को, (४) दुर्भिक्ष मे।[८४]

गीता मे दान के सात्विक, राजस और तामस ये तीन भेद किये है। कर्त्तव्य बुद्धि से जो दान देश, काल और पात्र का विचार करके अपना उपकार न करने वाले व्यक्ति के लिए दिया जाता है वह सात्विक दान है।[८५]

जो दान उपकार के बदले मे अथवा फल पाने की इच्छा से दिया जाता है और जिसके देने से मन मे कुछ क्लेश होता है वह राजस दान है।[८६]

जो दान विना सत्कार किये, अथवा तिरस्कारपूर्वक,

---

८३. अगुत्तर निकाय ५।३४

८४. अगुत्तर निकाय ५।३६

८५. दातव्यमिति यद्दान, दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च, तद्दानं सात्विक विदु.॥
—भगवद्गीता १७।२०

८६ यत्तु प्रत्युपकारार्थं, फलमुद्दिश्य वा पुन.।
दीयते च परिक्लिष्ट, तद्दान राजस स्मृतम्॥
—भगवद्गीता अ० ११। २१

देश काल का विचार किये विना अपात्र को दिया जाता है वह तामस दान है।[87]

जैन, बौद्ध और वैदिक तीनो ही परम्पराओ मे विविध दृष्टियो से दान के अनेक भेद प्रभेद किये गये है। विस्तार भय से तथा अनावश्यक होने से उन सभी का उल्लेख यहाँ नही किया जा रहा है। सक्षेप मे तीनो ही परम्पराओ ने एक स्वर से अन्नदान, अभयदान और ज्ञानदान के महत्त्व को स्वीकार किया है और उनका विस्तार से निरूपण भी किया है।

अन्नदान :

जैनागमों की दृष्टि से पुण्य के नौ प्रकारो मे 'अन्नपुण्य' सर्व प्रथम है।[88] इसका कारण यह है कि क्षुधा के समान कोई वेदना नही है।[89] बाईस परीषहो मे क्षुधा परीषह प्रथम है।[90] श्रमणो को दिये जाने वाले दानो मे भी अन्नदान सर्व प्रथम है।[91] भोजनदान देने से तीनो ही दान दिये हुए हो जाते है।+

---

८७. अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं, तत्तामसमुदाहृतम्॥

—भगवद्गीता १७।२२

८८. णवविहे पुण्णे प० त० अन्न पुण्णे, पाणपुण्णे, वत्थपुण्णे, लेणपुण्णे, सयणपुण्णे, मणपुण्णे, वयपुण्णे, कायपुण्णे, नमोक्कारपुण्णे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्था० ९ सू० ६७६

८९. खुहासमा नत्थि वेयणा।

—गौतम कुलक

९० (क) समवायाग २२
(ख) भगवती शतक ८ उ० ८ सू० ३६१
(ग) उत्तराध्ययन अ० २
(घ) तत्त्वार्थसूत्र ९-८।९७

९१ देखिए टिप्पण न० ६७ से ८१ तक।

+ भोयणदाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३६३

सयुक्तनिकाय मे महात्मा बुद्ध ने कहा है—"एक अन्न ही है, जिसे सभी चाहते है। देवता हो या मानव, भला ऐसा कौन सा प्राणी है जिसे अन्न प्यारा न हो? जो अन्न का श्रद्धा से दान करते है, अत्यन्त प्रसन्न चित्त से, उन्ही को वह अन्न प्राप्त होता है। इस लोक मे और परलोक मे भी।[९२]

महात्मा बुद्ध से पूछा गया-भगवन्! क्या देने वाला वल देता है? वुद्ध ने कहा—अन्न देने वाला बल देता है?[९३]

अन्यत्र भी महात्मा बुद्ध ने कहा है—'जो मनुष्य भोजन देता है वह लेने वाले को चार वस्तुएँ देता है—वर्ण, सुख, बल और आयु। उसका फल देने वाले को देवायु, दिव्यवर्ण, दिव्य सुख, और दिव्य वल[९४] के रूप मे प्राप्त होता है।

वैदिक संस्कृति के अमरगायक व्यास कहते है—"अन्न ही मनुष्यो का प्राण है, उसी से प्राणी उत्पन्न होते है। सारा संसार अन्न के सहारे टिका है। अत अन्नदान सब से अधिक प्रशसनीय है।[९५] जो व्यक्ति दुर्बल, विद्वान्, जीविकाहीन एव दुःखी व्यक्ति को अन्न देकर उसकी क्षुधा मिटाता है, उसके समान संसार मे कोई नही।[९६] सब दानो मे अन्नदान श्रेष्ठ है, अत. धर्म की इच्छा रखने वाले मनुष्य को सरल भाव से अन्न का दान करना चाहिए।[९७]

---

९२. सयुक्त-निकाय प्रथम भाग, अन्न सुत्त १।५।३

९३. सयुक्त निकाय प्रथम भाग, किं दद सुत्त १।५।२

९४. अगुत्तर निकाय ४।५८

९५. प्राणाह्यन्न मनुष्याणा, तस्माज्जन्तुश्च जायते।
अन्ने प्रतिष्ठितो लोकस्तस्मादन्नं प्रशस्यते॥
—महाभारत, अनुशासन, अ० ११२ श्लो० ११

९६. कृशाय कृतविद्याय, वृत्तिक्षीणाय सीदते।
अपहन्यात् क्षुधा यस्तु, न तेन पुरुप सम.॥
—महाभारत अनुशासन पर्व, अ० ५९ श्लो० ११

९७. सर्वेषामेव दानानामन्नं श्रेष्ठमुदाहृतम्।
पूर्वमन्नं प्रदातव्यमृजुना धर्ममिच्छता॥
—महाभारत अनुशासन पर्व, अ० ११२ श्लो० ११०

अभयदान :

किसी मरते हुए प्राणी को बचाना, सकट मे पडे हुए का उद्धार करना, उसे निर्भय बनाना अभयदान है।+ भगवान् श्री महावीर ने कहा—दानो मे श्रेष्ठ अभयदान है।[९८] पद्मपुराणकार ने तो कहा है कि अभयदान से बढकर अन्य दान नहीं है।[९९] जो विद्वान् सब जीवो को अभयदान करता है वह इस ससार मे नि सदेह प्राणदाता माना जाता है।[१००] अभयदान पाकर प्राणी को जो सुख होता है वह अपूर्व है।

वर्तमान युग मे मानव भय मे कांप रहा है। विज्ञान के प्रखर-प्रकाश मे भी ससार पथ-भ्रष्ट हो रहा है। समर देवता की भयानक जीभ विश्व को निगलने के लिए लपलपा रही है। तीन अरब कण्ठो की आर्त-वाणी है—'मानवता संकटापन्न है, शान्ति की मासूम बुलबुले छटपटा रही है। अत ऐसे माई के लाल की आवश्यकता है, जो मानवो को भय से मुक्त कर अभय प्रदान करे।

\+ जं कीरइ परिरक्खा णिच्च मरणभयभीरजीवाण।
तं जाण अभयदाण सिहामणी सव्वदाणाण।

—वसुनन्दि श्रावकाचार २३८

(ख) भवत्यभयदान तु, जीवाना वधवर्जनम्।
मनो-वाक्कायै करण-कारणाऽनुमतैरपि॥

—त्रिषष्ठि० १।१।१५७

(ग) वधस्य वजन तेऽवभयदान तदुच्यते।

—त्रिषष्ठि० १।१।१६६

९८. दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाणं।

—सूत्रकृताग अ० ६ गा० २३

९९. अभय. सर्वभूताना, नास्ति दानमत. परम्।

—पद्मपुराण

१००. सर्वभूतेषु यो विद्वान्, ददात्यभयदक्षिणाम्।
दाता भवति लोके स, प्रजाना नात्र संशय॥

—महाभारत अनु० प० ११५ श्लो० १८

ज्ञानदान :

ज्ञान के अभाव मे मानव अन्धा है। अंधे को नेत्र मिलने पर जितनी प्रसन्नता होती है, उससे भी अधिक अज्ञानी को ज्ञान प्राप्त होने पर होती है। ज्ञानदान से ही प्राणी हिताहित तथा तत्त्व अतत्त्व को जानता है और व्रत को ग्रहण करता है।[१०१] पहले ज्ञान है, फिर दया है।[१०२] धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारो ही पुरुषार्थ ज्ञान के द्वारा सिद्ध होते हैं। अत ज्ञानदान देने वाला इन चारो को पाने का अधिकारी होता है।[१०३] जल, अन्न, गौ, भूमि, वस्त्र, तिल, सुवर्ण तथा घृत जैसे पदार्थों के दान से ज्ञान का दान कही अधिक उत्कृष्ट है।[१०४]

दान धर्म का शिलान्यास है। इस शिलान्यास पर ही धर्म का सुहावना सौध निर्मित हो सकता है। एडीसन के शब्दो मे दान ही धर्म का पूर्णत्व और उसका आभूषण है।[१०५] विक्टर ह्यगो ने कहा है, ज्यो ही पर्स (बटुआ) रिक्त होता है, हृदय समृद्ध होता है।[१०६] दान असख्य पापो का छादन करने वाला है,[१०७] अत इस सनातन नियम को स्मरण रखो कि यदि तुम प्राप्त करना चाहते हो तो अर्पित करना सीखो।[१०८] दान 'प्रिजर्व' नही किन्तु 'ग्रो' है। मौसम पर

---

१०१. ज्ञानदानेन जानाति, जन्तु' स्वस्य हिताहितम्।
वेत्ति जीवादितत्त्वानि, विरतिं च समश्नुते॥
—त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र १।१।१५५

१०२. पढमं नाणं तओ दया।
—दशवैकालिक, अ० ४

१०३. आचार्य अमितगति,

१०४. सर्वेषामेव दानाना, ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम्॥
—मनुस्मृति ४।१६३

१०५. ज्ञानगगा।

१०६. अमरवाणी।

१०७. पीटर महान्।

१०८. सुभाषचन्द्र बोस।

कोल्ड स्टोरेज मे आम आदि रख दिये जाते है और मौसम बीत जाने पर निकाल लिये जाते है। इस प्रकार रक्षित कर रखना 'प्रिजर्व' है। किन्तु आम का बीज बोते है, उसमे अंकुर फूटते है, टहनिया आती है, फूल खिलते है फल लगते हैं, यह सब संवर्धन 'ग्रो' है। तात्पर्य यह है कि दान वृद्धि का कारण है।

हिरात का शेख अब्दुला अन्सार अपने शिष्यो से कहता था—शिष्यो! आकाश मे उडना कोई चमत्कार नही है, क्योकि गन्दी मे गंदी मक्खियाँ भी आकाश मे उड सकती है। पुल या नाव के बिना भी नदियो को पार कर जाना कोई चमत्कार नही है, क्योकि एक साधारण कुत्ता भी ऐसा कर सकता है। किन्तु दुखी हृदयो को सहायता देना, दान देना एक ऐसा चमत्कार है, जिसे पवित्रात्मा ही किया करते हैं। जो जीवन मे धर्म की आराधना व साधना करना चाहते हैं, उन्हे सर्व प्रथम दान वृत्ति अपनाना चाहिए।

ग्यारह | महावीर के सिद्धान्त

श्रमण भगवान् श्री महावीर युगप्रवर्तक क्रान्तिकारी और सूक्ष्म द्रष्टा महापुरुष थे। जिस युग मे वे जन्मे थे उस युग मे मानव अविद्या और रूढियो की जंजीरो से जकडा हुआ था। भीषण अत्याचार पनप रहे थे। मानवता का कोई सम्मान नही था। जातिवाद को खुलकर प्रश्रय प्राप्त था। धर्म के नाम पर हजारो मूक प्राणियो की ही नही, अपितु मानवो की भी वलि दी जाती थी। उनके करुण क्रन्दन से भी धर्मध्वजियो के हृदय द्रवित नही होते थे। अन्धपरम्परा के निविडतम अन्धकार से लोगो की आँख खोलने की शक्ति एकदम क्षीण हो चुकी थी। वे विलकुल असहाय और विवश थे।

उस विकट-वेला मे दीर्घ तपस्वी और साधना के कषोपल पर कसे हुए महावीर एक नूतन सन्देश लेकर आये। उन्होने भूले-भटके जीवनराहियो को प्रशस्त पथ का प्रदर्शन करते हुए अकारत्रयी-अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त की दिव्य देशना दी। प्रस्तुत अकारत्रयी मे महावीर की समग्र वाणी का सार है, शेष जो कुछ भी है—इसी का विस्तार है।

अहिंसा .

भगवान् ने कहा—हिंसा ग्रन्थि है, मोह है, मृत्यु है, नरक है।[1] एतदर्थ ही वीर पुरुष अहिंसा के राजपथ पर चल पडे है,[2] तुम भी

---

१. एस खलु गन्थे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।
—आचाराग १।३।२३

२. पणया वीरा महावीहिं।
—आचाराग श्रु० १, अ० १ उ० ३

चलो। प्राण, भूत, जीव सत्त्व की हिंसा न करो, उन पर शासन मत करो, उनको पीडित मत करो, उन पर प्रहार मत करो।[3] ज्ञानियो के ज्ञान का सार यही है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे।[४]

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नही चाहता, अतः निर्ग्रन्थ प्राणिवध का वर्जन करते हैं।[५] सभी प्राणियो को अपने प्राण प्रिय हैं, सुख अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल है।[६] जैसे मुझे दुःख प्रिय नही है, वैसे ही सब जीवो को भी दुःख प्रिय नही है। यह समझकर जो न स्वयं हिंसा करता है और न दूसरो से हिंसा करवाता है वही श्रमण है।[७]

इस प्रकार हिंसा का निषेध कर उसे नरक ले जाने का प्रमुख कारण बताकर[८] भगवान् ने मानव को अहिंसा के राजमार्ग पर बढने की प्रेरणा दी। उन्होने स्पष्ट शब्दो मे कहा—मनसा, वाचा, कर्मणा जो स्वय जीवो की हिंसा करता है, दूसरो से करवाता है, या जो जीव

---

३ सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हन्तव्वा।
न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा॥
—आचाराग १।४।१

४. एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।
—सूत्रकृतांग श्रु० १, अ० ११ गा० १०

५. सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं,
तम्हा पाणिवहं घोरं, णिग्गन्था वज्जयंति णं।
—दशवैकालिक, ६।१०

६. सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पिय जीविणो जीविउकामा। सव्वेसिं जीवियं पियं।
—आचाराग १।२।३

७. जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्व जीवाणं
न हणइ न हणावेइ य, सममणइ तेण सो समणो।
—अनुयोग द्वार

८. महारम्भयाए महापरिग्गहियाए, पंचिदिय वहेण, कुणिमाहारेण।
—भगवती शतक ८।३।९

हिंसा का अनुमोदन करता है वह वैर की वृद्धि करता है।[9] अत. प्राणीमात्र को आत्मतुल्य समझो।[10] उन्होने हिंसात्मक यज्ञो के स्थान पर अहिंसात्मक आत्म-यज्ञ का निरूपण किया।[11]

अहिंसा का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए भगवान् ने स्पष्ट शब्दों मे कहा—इस विराट् विश्व मे अहिंसा ही भगवती है।[12] वह भय-भीतो के लिए शरण है, पक्षियो के लिए पाँख है, पिपासुओ के लिए पानी है, भूखो के लिए अन्न है, समुद्र यात्रियो के लिए पोत है, चतुष्पदो के लिए आश्रम-स्थल है, रोगियो के लिए औषध है, वन यात्रियो के लिए साथ (काफिला) है, अहिंसा सभी के लिए कल्याणकारी है।[13] अहिंसा उत्कृष्ट मंगल है।[14] श्रमणधर्म और श्रावकधर्म की

---

९ सयऽतिवायए पाणे, अदुवन्नेहि घायए।
हणन्तं वाणुजाण ", वेरं वड्ढइ अप्पणो॥

—सूत्रकृतांग १।१।१-३

१०. अत्तसमे मन्निज्ज ' प्पिकाये।

—दशवैकालिक १०-५

(ख) आयतुले पयासु।

—सूत्रकृतांग १।१०।३

११. तवो जोई, जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंग,
कम्मेहा संजमजोगसन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं।

—उत्तराध्ययन सूत्र १२।४४

१२. एसा सा भगवती अहिंसा।

—प्रश्न व्याकरण

१३. जा सा भीयाण विव सरणं, पक्खीणं पिव गमणं, तिमियाणं पिव सलिलं, खुहियाणं पिव असणं, समुद्दमज्झे व पोतवहणं, चउप्पयाणं व आसमपयं, दुहट्ठियाणं च ओसहिबलं, अडवीमज्झे विसत्थगमणं ....तसथावरसव्वभूयखेमकरी एसा भगवती अहिंसा।

—प्रश्न व्याकरण, संवरद्वार

१४. दशवैकालिक १।१

साधना अहिंसा के विना सभव नही है। अतः महावीर ने महाव्रत[15] और अणु-व्रत[16] मे अहिंसा को प्रथम स्थान दिया।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रमण भगवान् श्री महावीर का अहिंसा सिद्धात केवल निषेधात्मक ही नही, अपितु विधेयात्मक भी है। प्रश्नव्याकरण मे अहिंसा के जो साठ पर्यायवाची नाम बताये हैं, वे अहिंसा के विराट् स्वरूप क या उसके विविध रूपो के निर्देशक हैं। उनमे ग्यारहवाँ नाम दया है।[17] आचार्य श्री मलयगिरि ने उसका अर्थ 'देह धारी जीवो की रक्षा करना' किया है।[18] अहिंसा के जहाँ अनेक नाम निषेधात्मक है वहाँ अनेक नाम विधेयात्मक भी हैं, जैसे रक्षा, दया, अभय आदि।[19] निष्कर्ष यह है कि भगवान् महावीर के विराट् अहिंसातत्त्व को समझने के लिए अहिंसा के दोनो पहलुओ को समझना आवश्यक है। गान्धी जी ने भी कहा है--जहाँ दया नही, वहाँ अहिंसा नही''[20] अस्तु।

अपरिग्रह .

भगवान् श्री महावीर ने अपरिग्रह का सन्देश देते हुए कहा— "वस्तु अपने आप मे परिग्रह नही है, किन्तु वस्तु के प्रति मूर्च्छा भाव ही वस्तुत परिग्रह है।[21] परिग्रह एक प्रकार का बंधन है। ससार के

---

१५. अहिंसच्च च अतेणग च, तत्तो य बभ च अपरिग्गह च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाइ, चरिज्ज धम्म जिणदेसिय विऊ॥
—उत्तराध्ययन, २१।२२

१६ उपासक दशाग अ० १

१७ प्रश्नव्याकरण सवरद्वार

१८. दया-देहिरक्षा।

१९. प्रश्न व्याकरण संवरद्वार।

२०. गान्धीवाणी पृ० १७

२१. मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्त महेसिणा।
—दशवैकालिक अ० ६। गा० २०

सभी प्राणियों को परिग्रह ने जकड रक्खा है। इससे बढकर अन्य कोई भी बंधन नही है।[२२]

जो ममत्वबुद्धि का त्याग करता है, वही व्यक्ति ममत्व का भी त्याग करता है, वही सच्चा और अच्छा साधक है। जिसे किसी भी प्रकार का ममत्व नही है।[२३] सच्चा साधक अपने तन पर भी ममत्व नही रखता।[२४]

जो व्यक्ति अर्थ को अनर्थ का कारण न मानकर उसे अमृत मानता है और उसे प्राप्त करने के लिए पापकृत्य करता है, वह कर्मों के दृढ पाश मे बन्ध जाता है, अनेक जीवो के साथ वैरानुबन्ध कर अन्त मे विराट् वैभव को यही छोड़कर एकाकी नरक मे जाता है।[२५]

पदार्थं ससीम है और तृष्णा असीम है, आकाश के समान अनन्त है। सुवर्ण, रजत के असख्य पर्वत भी लोभी मानव के दिल मे परितृप्ति उत्पन्न नही कर सकते। विराट् वैभव भी उसके मन को प्रमुदित नही कर सकता, वह समझता है—यह बहुत ही कम है।[२६]

---

२२. नत्थि एरिसो पासो,
पडिबधो अत्थि सव्व-जीवाणं। —प्रश्नव्याकरण

२३. जे ममाइम मइं जहाइ, से जहाइ ममाइअं।
सेहु दिट्ठभएमुणी जस्स नत्थि ममाइअं॥ —आचारांग

२४. अवि अप्पणो वि देहम्मि
नाऽऽयरंति ममाइय। —दशवैकालिक

२५. जे पावकम्मेहिं धणं मणूसा,
समाययन्ती अमइं गहाय।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
वेराणुबद्धा णरयं उवेंति।
—उत्तराध्ययन, अ० ४ गा० २

२६ सुवण्णरूवस्स उ पव्वया भवे
सिया हु केलाससमा असखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि
इच्छा हु आगाससमा अणतिया॥
—उत्तराध्ययन अ० ९। गा० ४८

आग में कितना ही ईंधन डाला जाय वह कभी तुष्ट नही होती, सागर में चाहे कितनी ही सरिताएं गिरें उसे तृप्ति नही होती।' यही अवस्था मानवमन की है। एतदर्थ महावीर ने इच्छाओ के नियत्रण पर वल दिया।

धन को ही जीवन का ध्येय समझने वालो को महावीर ने कहा—धन इस लोक और परलोक में तुम्हारी कही भी रक्षा नही कर सकता,[२७] अत धन को नही, धर्म को महत्त्व दो। धर्म ही सच्चा रक्षक और सही शरण है।[२८]

अनेकान्त

श्रमण भगवान् श्री महावीर ने अनेकान्त का सन्देश देते हुए कहा—तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है।[२९] सत्य का परिज्ञान करने के लिए अपेक्षित है कि वस्तु का सभी दृष्टियो से चिन्तन किया जाय। जो वस्तु नित्य प्रतीत होती है, वह अनित्य भी है। जो वस्तु क्षणिक है वह नित्य भी है। जहां नित्यता है वहां अनित्यता भी है। अनित्यता के अभाव मे नित्यता की प्रतीति नही हो सकती, और नित्यता के अभाव मे अनित्यता की पहचान नही हो सकती है। एक की प्रतीति द्वितीय की प्रतीति से ही संभव है। अनेकानेक अनित्य प्रतीतियो के मध्य जहा एक स्थिर प्रतीति होती है, वह ध्रौव्य है।

सब ज्ञानो की विषयभूत वस्तु अनेकान्तात्मक होती है।[३०] अत.

२७. वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
—उत्तराध्ययन अ० ४। गा० ५

२८. एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं
न विज्जए अन्नमिहेह किंचि।
—उत्तरा० अ० १४।४०

२९. उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा।
—स्थानाङ्ग सूत्र, ठा० १०

३०. अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरं सर्वसंविदाम्।
—न्यायावतार, सिद्धसेन

वस्तु को अनेकान्तात्मक कहा है। जिसमे अनेक अर्थ, भाव, सामान्य विशेष गुणपर्याय रूप से पाये जाये वह अनेकान्त है।[31] और अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व को भाषा के द्वारा कथन करना स्याद्वाद है।[32] भगवान् ने अनेकान्त की दृष्टि से देखा और स्याद्वाद की भाषा मे उसका प्रतिपादन किया। भगवद्वाणी सदा स्याद्वादमयी होती है।[33] 'स्यात्' यह अव्यय अनेकान्त का द्योतक है। अत स्याद्वाद को अनेकान्तवाद भी कहते है।[34]

सत्य का समुद्घाटन करने के लिए भगवान् ने प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अपेक्षा दृष्टि से दिया। यथा—

जयन्ती—भगवन्! सोना अच्छा है या जागना!

महावीर—कितनेक जीवो का सोना अच्छा है और कितनेक जीवो का जागना अच्छा है।

जयन्ती—भगवन्! यह कैसे?

महावीर—जो जीव अधर्मी हैं, अधर्मानुग हैं, अधर्मनिष्ठ हैं, अधर्माख्यायी है, अधर्मप्रलोकी हैं, अधर्मप्ररञ्जन है, अधर्मसमाचार हैं, अधार्मिक-वृत्तियुक्त है, वे सोते रहे, यही अच्छा है। क्योंकि वे सोते रहेगे तो अनेक जीवों को पीड़ा नही देंगे। और इस प्रकार स्व, पर और उभय को अधार्मिक क्रिया मे सलग्न नही करेंगे, अत. उनका सोना श्रेष्ठ है। किन्तु जो जीव धार्मिक हैं, धर्मानुग हैं यावत् धार्मिक वृत्ति वाले है उनका तो जागना ही श्रेष्ठ है। क्योकि वे अनेक जीवो

---

३१. अथोऽनेकान्त। अनेके अन्ता भावा अर्था. सामान्यविशेषगुणपर्याया यस्य सोऽनेकान्त'।

३२. अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः।

—लघीयस्त्रय टीका ६२ अकलक

३३. स्याद्वाद भगवत्प्रवचनम्।

—न्यायविनिश्चय विवरण पृ० ३६४

३४. स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकं, ततः स्याद्वादोऽनेकान्तवाद।

—स्याद्वाद मजरी का० ५

को सुख देते हैं, स्व, पर और उभय को धार्मिक अनुष्ठान मे सलग्न करते है, अतएव उनका जागना ही श्रेष्ठ है।

जयन्ती—भगवन् ! बलवान् होना श्रेष्ठ है या दुर्बल होना ?

महावीर—कुछ जीवो का बलवान् होना श्रेष्ठ है और कुछ का दुर्बल होना।

जयन्ती—यह कैसे ?

महावीर—जो जीव अधार्मिक है, यावत् अधार्मिक वृत्ति वाले है, उनका दुर्बल होना श्रेष्ठ है। वे बलवान् होगे तो अनेक जीवों को कष्ट देंगे। जो जीव धार्मिक है यावत् धार्मिक वृत्ति वाले है उनका बलवान् होना श्रेष्ठ है क्यो कि वे बलवान् होने से अधिक जीवो को सुख पहुँचायेगे[३५]

इस प्रकार अलसत्व और दक्षत्व के प्रश्न का उत्तर भी विभाग करके दिया।

गौतम—भगवन् ! आर्द्र गुड मे कितने वर्ण हैं कितने गध है कितने रस है और कितने स्पर्श है ?

भगवान्—गौतम ! दो नय है—निश्चय नय और व्यवहार नय। व्यवहार नय से आर्द्र गुड म मधुरता है, और निश्चय नय से पाँच वर्ण है, दो गध है, पाँच रस हैं और आठ स्पर्श है।[३६]

गौतम—भगवन् ! भ्रमर मे कितने वर्ण है ?

भगवान्—गौतम ! व्यवहार नय की दृष्टि से भ्रमर काला है, एक

---

३५. भगवती १२।२।४४३

३६. फाणियगुले णं भन्ते ! कइवन्ने कइगन्धे कइरसे कइफासे पण्णत्ते ?

गोयमा ! एत्थणं दो नया भवन्ति, तं जहा निच्छइयनए य वावहारियनए य, वावहारियनयस्स गोड्डे फाणियगुले, नेच्छइयनयस्स पंचवन्ने दुगंधे पंचरसे अट्ठफासे।

—भगवती शतक १८।६

वर्ण वाला है किन्तु निश्चय नय की दृष्टि से उसमे श्वेत, कृष्ण, नील आदि पाँचो वर्ण है।[३७]

इसी प्रकार राख[३८] और शुक-पिच्छ[३९] के सम्बन्ध मे जिज्ञासा व्यक्त करने पर भगवान् ने व्यवहार और निश्चयनय की दृष्टि से उत्तर प्रदान किये।

महात्मा बुद्ध ने लोक, जीव आदि की नित्यता, अनित्यता, सान्तता और अनन्तता के प्रश्नो को अव्याकृत कहकर टाल दिया।[४०] किन्तु भगवान् श्री महावीर ने उन प्रश्नो के उत्तर विविध रूप से प्रदान किये। महात्मा बुद्ध ने आत्मा आदि के सम्बन्ध मे चिन्तन करना साधक के लिए अनुचित माना है। उसे—"अयोनिसोमनसिकार—विचार का अयोग्य ढंग कहा है। "अयोनिसोमनसिकार" से आश्रव उत्पन्न होते है और उत्पन्न आश्रव वृद्धिगत होते है।[४१] परन्तु भगवान् श्री महावीर ने साधना की दृष्टि से जीव, लोक आदि का ज्ञान आवश्यक माना है।[४२] जब तक इन बातो का ज्ञान नही होता, तब तक कोई

---

३७. भमरे ण भन्ते! कइवण्णे पुच्छा? गोयमा! एत्थणं दो नया भवन्ति तं जहा णिच्छइयणए य, वावहारियणए य। वावहारियणयस्स कालए भमरे, णिच्छइयणयस्स पंचवण्णे जाव अट्ठ फासे।
—भगवती शतक १८।६

३८ छारियाणं भन्ते! पुच्छा? गोयमा! एत्थण दो नया भवन्ति त जहा—णिच्छइयणए य, वावहारियणएय। वावहारियणयस्स लुक्खा छारिया, णेच्छइयस्स पंच वण्णे जाव अट्ठफासे पण्णत्ते।
—भगवती शतक १८।६

३९ सुयपिच्छेण भन्ते! कइवण्णे पण्णत्ते! एव चेव णवर वावहारियणयस्स णीलए सुयपिच्छे, णेच्छइयस्स णयस्स सेसन्त चेव।
—भगवती १८।६

४०. मज्झिमनिकाय चूलमालुक्यसुत्त ६३।

४१. मज्झिमनिकाय—सव्वासवसुत्त २

४२. इहमेगेसि नो सन्ना भवइ तं जहा—पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमसि, दाहिणाओ वा....अन्नयरीयाओ वा दिसाओ वा अणुदिसाओ

भी जीव आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी नही हो सकता। अत आत्मा आदि के विषय मे चिन्तन करना संवर और मोक्ष लाभ का कारण माना है।[४३]

लोक शाश्वत है या अशाश्वत है? इस प्रश्न के उत्तर मे महावीर ने कहा—

जमालि! लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। त्रिकाल मे एक भी ऐसा समय नही मिल सकता जब लोक न हो, अतएव लोक शाश्वत है। वह अशाश्वत भी है, क्योकि लोक हमेशा एकरूप नही रहता। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल मे अवनति और उन्नति होती रहती है। कालक्रम से लोक मे विविधरूपता आती रहती है, अत लोक अनित्य है, अशाश्वत है।[४४]

लोक सान्त है या अनन्त है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा— स्कन्दक! लोक को चार प्रकार से जाना

वा आगओ अहमसि। एवमेगेसि नो नाय भवइ—अत्थि मे आया उववाइए, नत्थि मे आया उववाइए, के अह आसी, के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि?

"से ज पुण जाणेज्जा सहसम्मइयाए, परवागरणेण, अन्नेसि वा अन्तिए सोच्चा। त जहा—पुरत्थिमाओ. एवमेगेसि नाय भवइ—अत्थि मे आया उववाइए जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसचरइ सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ, सोह—से आयावाई, लोगावाई कम्मावाई किरियावाई।

— आचाराग १-१।१ २-३

४३. इह आगइ गइ परिण्णाय अच्चेइ जाइमरणस्स वट्टमग्ग विक्खायरए।

—आचाराग १।५।६

४४. सासए लोए जमाली, जन्न कयावि णासी ण कयावि ण भवति ण कयावि ण भविस्सइ, भुवि च भवइ य, भविस्सइ य धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे। असासए लोए जमाली! जओ ओसप्पिणी भवित्ता उस्सप्पिणी भवइ।

—भगवती सूत्र ९।३३।३८७

जाता है—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, और भाव से। द्रव्य की अपेक्षा से लोक एक है और सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा से लोक असख्यात योजन कोटाकोटि विस्तार और असख्यात योजन कोटाकोटि परिक्षेप प्रमाण वाला है, अत· क्षेत्र की अपेक्षा से लोक सान्त है। काल की अपेक्षा से कोई काल ऐसा नही जब लोक न हो, अत· लोक ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है, नित्य है। उसका कभी अन्त नही है। भाव की अपेक्षा से लोक के अनन्त वर्ण-पर्याय, गंधपर्याय, रसपर्याय और स्पर्शपर्याय है। अनन्त सस्थान-पर्याय हैं, अनन्त गुरुलघुपर्याय हैं, अनन्त अगुरुलघुपर्याय हैं। उसका कोई अन्त नही। अत· लोक द्रव्य दृष्टि से सान्त है, क्षेत्र दृष्टि से सान्त है, काल दृष्टि से अनन्त है, भावदृष्टि से अनन्त है।[४५]

जीव शाश्वत है या अशाश्वत है, प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा—गौतम ! जीव किसी दृष्टि से शाश्वत है, किसी दृष्टि से

---

४५ एव खलु मए खन्दया ! चउव्विहे लोए पण्णत्ते, त जहा दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ।

दव्वओ णं एगे लोए सअते।

खेत्तओ ण लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्ख-भेणं, असखेज्जाओ जोयण कोडाकोडीओ परिक्खेवेण पन्नत्ते, अत्थि-पुण सअते।

कालओ ण लोए ण कयावि न आसि, न कयावि न भवति, न कयावि न भविस्सति। भविसु य भवति य भविस्सइ य, धुवे णितिए सासते, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, णिच्चे, णत्थि पुण से अते।

भावओ ण लोए अणता वण्णपज्जवा गधपज्जवा रसपज्जवा फासपज्जवा अणंता सठाणपज्जवा, अणता गरुयलहुयपज्जवा अणता अगरुलहुयपज्जवा नत्थि पुण से अन्ते।

से त्त खन्दगा ! दव्वओ लोए सअते, खेत्तओ लोए सअन्ते, कालतो लोए अणन्ते, भावतो लोए अणन्ते।

—भगवती २।१।९०

अशाश्वत है। द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत है और भावार्थिक पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत है।[४६]

द्रव्य दृष्टि का अर्थ है अभेदवादी दृष्टि और पर्यायदृष्टि का अर्थ है भेदवादी दृष्टि। द्रव्यदृष्टि से जीव मे जीवत्वसामान्य का कभी अभाव नही होता, वह किसी भी अवस्था मे हो, जीव ही रहता है, अजीव नही होता। अत वह नित्य है। पर्याय दृष्टि से जीव किसी न किसी पर्याय मे रहता है। एक पर्याय का परित्याग कर अन्य पर्याय को ग्रहण करता रहता है, अत अनित्य है।

जीव सान्त है या अनन्त है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा—

जीव सान्त भी है और अनन्त भी है। द्रव्य की दृष्टि से एक जीव सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा से भी जीव असंख्यातप्रदेशयुक्त होने से सान्त है। काल की दृष्टि से जीव भूतकाल में था, वर्तमान मे है और भविष्यत् काल मे रहेगा, अत. अनन्त है। भाव की अपेक्षा से जीव के अनन्त ज्ञानपर्याय, अनन्त दर्शन पर्याय, अनन्त चारित्र पर्याय और अनन्त अगुरुलघु पर्याय है, अत अनन्त है।[४७] तात्पर्य यह है कि द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से जीव सान्त है और काल तथा भाव की दृष्टि से अनन्त है।

---

४६. जीवा णं भन्ते! किं सासया असासया?
गोयमा! जीवा सिय सासया सिय असासया।
गोयमा दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया॥

—भगवती ७।२।२७३

४७. जे वि य खन्दया! जाव सअन्ते जीवे, तस्स वि य णं एयमट्ठे-एवं खलु जाव दव्वओ णं एगे जीवे सअन्ते, खेत्तओ णं जीवे असंखेज्ज-पएसिए असंखेज्जपएसोगाढे, अत्थि पुण से अन्ते, कालओ णं जीवे न कयावि न आसि जाव निच्चे, नत्थि पुण से अन्ते, भावओ णं जीवे अणन्ता णाणपज्जवा, अणन्ता दंसणपज्जवा, अणन्ता चरित्तपज्जवा, अणन्ता अगुरुलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अन्ते।

—भगवती० २।१।९०

भगवान् महावीर ने द्रव्य में एकता और अनेकता दोनों धर्म मान्य किये है। भगवान् ने कहा—सोमिल! द्रव्यदृष्टि से मैं एक हू। ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से मैं दो हूँ। न परिवर्तन होने वाले प्रदेशो की दृष्टि से मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूँ, अवस्थित हूँ। परिवर्तित होने वाले उपयोग की दृष्टि से मैं अनेक हूँ।[४८]

इस प्रकार भगवान् श्री महावीर ने अनेकान्त दृष्टि से प्रत्येक प्रश्न का समाधान किया। विरोधी प्रतीत होने वाले एकत्व और अनेकत्व, नित्यत्व और अनित्यत्व, सान्तत्व और अनन्तत्व, सत्त्व और असत्त्व धर्मों का अनेकान्त दृष्टि से समन्वय किया।

यहाँ पर यह स्पष्टीकरण करना आवश्यक है कि भगवान् महावीर की अनेकान्त दृष्टि दो एकान्तो को मिलाने वाली मिश्रदृष्टि नहीं है। किन्तु यह एक स्वतन्त्र और विलक्षण दृष्टि है, जिसमें वस्तु का पूर्ण रूप परिज्ञात होता है और वस्तु के सभी धर्म निर्विरोध रूप से प्रतिभासित होते हैं।

भगवान् ने अपने श्रमणो को भी यह आदेश दिया कि भिक्षुओ! तुम स्याद्वाद भाषा का ही प्रयोग करो।[४९]

भगवान् श्री महावीर की वाणी में एक शाश्वत सत्य था, जो जन-मन को छू गया था। हिंसा, शोषण और दुराग्रह के स्थान पर अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त की अमल-धवल धारा जन-मन में प्रवाहित होने लगी। भगवान् के पावन प्रवचनो से पशु और मानवो की बलि बन्द हुई, अहिंसक यज्ञ प्रारम्भ हुए। गुलाम प्रथा का अन्त हुआ, नारी और शूद्रो को धर्माधिकार प्राप्त हुए। अपरिग्रह और अनेकान्त की प्राणप्रतिष्ठा हुई।

---

४८. सोमिला! दव्वट्ठयाए एगे अहं, णाणदसणट्ठयाए दुविहे अहं, पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं, अव्वए वि अहं, अवट्ठिए वि अहं, उवओगट्ठयाए अणेगभूयभावभविए वि अहं।

—भगवती १।८।१०

४९ भिक्खु विभज्जवायं च वियागरेज्जा।

—सूत्रकृताङ्ग १।१४।२२

आज विज्ञान और विनाश की इस कसमसाती वेला में भगवान् महावीर के अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त दृष्टि के प्रचार की इतनी ही आवश्यकता है, जितनी उस युग में थी। यह देशनात्रयी मानवसमाज के लिए एक अमृतोपम औषधि है, जिसके सेवन से मानव समाज पूर्ण स्वस्थ, मस्त और प्रसन्न हो सकता है। जब विचार में अनेकान्त, व्यवहार में अहिंसा और समाज में अपरिग्रह की उदात्त भावना अठखेलियाँ करने लगेगी तब जन-जन के जीवन में आनन्द की ऊर्मियां तरंगित होंगी।

अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त ही भारतीय संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्त हैं - इनमें भारतीय संस्कृति का सार संगृहीत है। समाज, राष्ट्र और जीवन में सर्वत्र सुख और सन्तोष का संचार करना ही इसका मूल ध्येय है, जो पुरातन होने पर भी अभिनव है। चिरन्तन होने पर भी चिरनवीन है।

परिशिष्ट

'धर्म और दर्शन' में प्रयुक्त ग्रन्थ

(१) आचारांग
(२) चर्पटपंजरिका
(३) महाभारत
(४) दशवैकालिक
(५) दशवैकालिक—जिनदास चूर्णि
(६) दशवैकालिक—हारिभद्रीयावृत्ति
(७) दशवैकालिक—अगस्त्यसिंह चूर्णि
(८) वैशेषिक दर्शन
(९) सर्वदर्शन संग्रह टीका—माधवाचार्य
(१०) बृहदारण्योपनिषद्
(११) उत्तराध्ययन
(१२) गीता
(१३) बौद्ध दर्शन
(१४) अंगुत्तर निकाय
(१५) सूत्रकृताङ्ग
(१६) स्थानाङ्ग
(१७) आवश्यक निर्युक्ति—आचार्य भद्रबाहु
(१८) विशेषावश्यक भाष्य—जिनभद्र
(१९) सूत्रकृताङ्ग—शीलाङ्क टीका
(२०) भगवती
(२१) योगदर्शन
(२२) तैत्तिरीय उपनिषद्
(२३) मनुस्मृति
(२४) समवायाङ्ग
(२५) कल्पसूत्र—भद्रबाहु

(२६) कल्पसूत्र—पुण्यविजय जी
(२७) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका
(२८) कल्पसूत्र—कल्पद्रुम कलिका
(२९) कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी—राजेन्द्रसूरि
(३०) कल्पसूत्र कल्पलता
(३१) कल्पसूत्र कल्पार्थबोधिनी
(३२) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
(३३) मज्झिम निकाय
(३४) अनुत्तरोपपातिक
(३५) अन्तकृद्दशा
(३६) आवश्यक चूर्णि—जिनदासगणी महत्तर
(३७) आवश्यक सूत्र—मलयगिरिवृत्ति
(३८) आवश्यक सूत्र—हारिभद्रीया वृत्ति
(३९) समवायाङ्ग—अभयदेव वृत्ति
(४०) त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित—आचार्य हेमचन्द्र
(४१) उत्तराध्ययन—नेमिचन्द्रीय वृत्ति
(४२) तत्वार्थ सूत्र—उमास्वाति
(४३) तत्वार्थ सूत्र—राजवार्तिक
(४४) मूलाचार—वट्टकेर
(४५) मोक्षपाहुड—आचार्य कुन्दकुन्द
(४६) सथार पइन्ना
(४७) ज्ञानसार तपाष्टक—उपाध्याय यशोविजय
(४८) दर्शन और चिन्तन—प० सुखलाल जी
(४९) उत्तर पुराण—गुणचन्द्राचार्य
(५०) महापुराण—जिनसेनाचार्य
(५१) गांधीजी की सूक्तियाँ
(५२) ज्ञाता सूत्र
(५३) आर० विलियम्स, जैन योग
(५४) वसुनन्दी श्रावकाचार
(५५) पचाचार वृत्ति
(५६) कर्मग्रंथ टीका

(५७) छहढाला—पं० दौलतराम जी
(५८) रत्नकरण्ड श्रावकाचार—आचार्य समन्तभद्र
(५९) निशीथ चूर्णि—जिनदास गणी महत्तर
(६०) व्यवहार भाष्य
(६१) वृहत्कल्प
(६२) निशीथ सूत्र
(६३) पन्नवणा सूत्र
(६४) ओघनिर्युक्ति
(६५) ज्ञानार्णव—शुभचन्द्र
(६६) पचतन्त्र—विष्णु शर्मा
(६७) धम्मपद
(६८) वृहत्कल्प लघुभाष्य
(६९) विनयपिटक
(७०) दशाश्रुतस्कन्ध
(७१) ऋषभदेव . एक परिशीलन—देवेन्द्र मुनि
(७२) वृहत्कल्प निर्युक्ति
(७३) राजेन्द्र कोष
(७४) कौटलीय अर्थशास्त्र
(७५) महानिशीथ
(७६) दर्शन पाहुड
(७७) मनुसहिता
(७८) षट् प्राभृत
(७९) प्रश्न व्याकरण
(८०) नंदी सूत्र
(८१) योगसूत्र—पतञ्जलि
(८२) बौद्ध दर्शन
(८३) समयसार—आचार्य कुन्दकुन्द
(८४) द्रव्य संग्रह—नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती
(८५) परमात्म प्रकाश
(८६) ज्ञान गङ्गा
(८७) अमर वाणी

(८८) अनुयोग द्वार
(८९) उपाकसक दशाग
(९०) गाधी-वाणी
(९१) न्यायावतार—सिद्धसेन
(९२) लघीयस्त्रय टीका—अकलंक
(९३) स्याद्वादमञ्जरी—मल्लिषेण
(९४) न्यायविनिश्चय विवरण
(९५) वृहत्स्वयम्भू स्तोत्र—समन्तभद्र
(९६) हारिभद्रीयाष्टक
(९७) योगशास्त्र
(९८) पद्मपुराण
(९९) रामचरित मानस
(१००) अशोक के फूल—डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी
(१०१) ब्रह्मसूत्र शाकर भाष्य—आचार्य शंकर
(१०२) अभिधर्म कोष
(१०३) योगदर्शन, व्यासभाष्य
(१०४) योग दर्शन, तत्ववैशारदी
(१०५) योग दर्शन, भास्वती टीका
(१०६) साख्य तत्व कौमुदी—वाचस्पति मिश्र
(१०७) न्याय भाष्य—वात्स्यायन
(१०८) न्याय मंजरी—जयन्त
(१०९) मीमासा सूत्र, शावर भाष्य—शवर स्वामी
(११०) तन्त्र वार्तिक
(१११) शास्त्र दीपिका
(११२) वाइबिल
(११३) कुरान शरीफ
(११४) अभिधर्म कोष
(११५) गोम्मट सार—आचार्य नेमिचन्द्र
(११६) आत्म-मीमासा—पं० दलसुख मालवणिया
(११७) आप्त मीमासा—आचार्य समन्तभद्र
(११८) पंचास्तिकाय—आचार्य कुन्दकुन्द

(१५०) जैन दर्शन—डा० मोहनलाल मेहता
(१५१) प्रज्ञापना टीका
(१५२) विनयचन्द चौवीसी
(१५३) तत्वार्थ सूत्र– पं० सुखलाल जी का विवेचन
(१५४) तत्त्वार्थ सूत्र—सर्वार्थ सिद्धि
(१५५) तत्त्वार्थ सूत्र—सिद्धसेनवृत्ति
(१५६) तत्त्वार्थ सूत्र—श्रुतसागरीयावृत्ति
(१५७) नवतत्त्व प्रकरण
(१५८) नव पदार्थ
(१५९) जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व
(१६०) जैनभारती—कलकत्ता
(१६१) धनञ्जय नाममाला
(१६२) महावीर कथा
(१६३) जयधवला भाग–१
(१६४) सुत्तागमे
(१६५) सप्ततिशत स्थान प्रकरण—सोमतिलक सूरि
(१६६) आवश्यक भाष्य
(१६७) ऋग्वेद
(१६८) नीतिशतक
(१६९) चाणक्य नीति
(१७०) अमितगतिश्रावकाचार
(१७१) धर्मरत्न प्रकरण
(१७२) समीचीन धर्मशास्त्र
(१७३) द्वादश अनुप्रेक्षा
(१७४) यशस्तिलक चम्पू
(१७५) भाव संग्रह
(१७६) गुणभद्र श्रावकाचार
(१७७) दान प्रदीप
(१७८) कार्तिकेयानुप्रेक्षा
(१७९) आचार्य अमितगति

(१८०) सुखविपाक
(१८१) उपासकदशाङ्ग
(१८२) रायपसेणीय सुत्त
(१८३) द्रव्य संग्रह, ब्रह्मदेव टीका
(१८४) प्रमाणनयतत्त्वालोक—वादिदेव सूरि
(१८५) माध्यमिक कारिका
(१८६) पटिसभिदा
(१८७) कौषीतकी उपनिषद
(१८८) चरक संहिता
(१८९) तत्त्व संग्रह
(१९०) न्यायावतारवार्तिक वृत्ति की प्रस्तावना
(१९१) मागन्दिय सुत्तन्त
(१९२) कुमारपाल प्रतिबोध—सोमप्रभाचार्य
(१९३) शिव गीता
(194) The wonder world of why aud how
(१९५) धर्म बिन्दु—आचार्य हरिभद्र
(१९६) धर्म रत्न प्रकरण—महामहोपाध्याय मानविजय गणि
(१९७) श्राद्धगुण विवरण—जिनमण्डन गणी
(१९८) तत्त्वानुशासन
(१९९) अध्यात्म संग्रह—उपाध्याय यशोविजय
(२००) अष्टसहस्री—विद्यानन्दी
(२०१) अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका—आचार्य हेमचन्द्र
(२०२) जैनसूत्राज की भूमिका—डाक्टर हर्मन जैकोबी
(२०३) समराइच्चकहा—आचार्य हरिभद्र
(२०४) नन्दीसूत्र—मलयगिरि वृत्ति
(२०५) पचास्तिकायटीका—श्री अमृतचन्द्र
(२०६) सन्मतितर्क—सिद्धसेन

●